सन् 1987 से निरंतर प्रकाशित

पर्यावरण डाइजेस्ट

पर्यावरण पर पहली राष्ट्रीय हिन्दी मासिक

ISSN 2229-7529
वर्ष 39, अंक 11
नवम्बर 2025
467



हाथी : संकट में है धरती के दिग्गज



योजना के प्रमुख उद्देश्य

- मध्यप्रदेश पावर मैनेजमेंट कंपनी को कम मूल्य पर बिजली की उपलब्धता सुनिश्चित कराना
- ट्रांसमिशन हानि कम करना एवं सीधे खपत स्थल पर बिजली पहुंचाना
- 33/11 केवी उपकेंद्रों पर ओवरलोडिंग, लो-वोल्टेज और पावर कट की समस्या कम करना
- किसान को सिंचाई के लिये दिन में बिजली उपलब्ध कराना

नवीकरणीय ऊर्जा का विस्तार

- सब-स्टेशन की 100% क्षमता तक की परियोजनाओं की स्थापना
- परियोजनाओं को पीएम कुसुम-सी योजनांतर्गत उपलब्ध केंद्रीय अनुदान का लाभ लेने का विकल्प
- 1900 से अधिक विद्युत सबस्टेशन एवं 14500 मेगावॉट क्षमता सौर परियोजनाओं के चयन हेतु उपलब्ध
- पीएम कुसुम योजना में 3.45 लाख पम्प का लक्ष्य
- वोकल फॉर लोकल - स्थानीय उद्यमियों के लिए निवेश एवं रोज़गार सृजन का उचित अवसर
- वित्त पोषण की सुगमता के लिए बैंकों से समन्वय
- परियोजनाओं में AIF के तहत 7 वर्षों तक 3% ब्याज में छूट
- Reactive Power प्रबंधन से अतिरिक्त आय

ISSN 2229-7529

पर्यावरण पर पहली राष्ट्रीय हिन्दी मासिक

पर्यावरण

डाइजेस्ट

प्रकाशन का 39 वां वर्ष

ईमेल - paryavaran.digest@gmail.com,kspurohitrtm@gmail.com

समन्वय प्रकाशन

19 पत्रकार कॉलोनी, रतलाम 457001 ☎: (07412) 403640

सम्पादक : डॉ. खुशालसिंह पुरोहित

संयुक्त संपादक : कुमार सिद्धार्थ, श्रीमती अलका पुरोहित

* पर्यावरण डाइजेस्ट एक अव्यवसायिक प्रकाशन * सभी पद मानसेवी

वर्ष 39, अंक 11 सहयोग : सप्रेस, स्त्रोत वार्षिक सदस्यता शुल्क रु. 200

नवम्बर 2025 संस्थागत रु. 400

यह अंक रु. 15 दसवर्षीय सदस्यता व्यक्तिगत रु. 1750, संस्थागत रु. 3500

सदस्यता शुल्क राशि बैंक डाफ्ट/धनादेश द्वारा पर्यावरण डाइजेस्ट के नाम भेजें या बैंक ऑफ बड़ौदा, स्टेशन रोड़, रतलाम के खाता क्रमांक 05040200000504 में जमा कर सकते है इसका IFSC CODE - BARB0RATLAM है।

स्वत्वाधिकारी डॉ. खुशालसिंह पुरोहित द्वारा 19 पत्रकार कॉलोनी, रतलाम से प्रकाशित एवं स्टेण्डर्ड स्टेशनरी मार्ट, 78 रानीपुरा, इन्दौर से मुद्रित।

डी.टी.पी. कार्य : विनिशा क्रियेशन, रतलाम

अंतरिक्ष में बनेगा डेटा सेंटर, सूरज से मिलेगी ऊर्जा

गूगल अंतरिक्ष में आर्टिफिशियल (एआइ) डेटा सेंटर बनाएगा। गूगल सीईओ सुंदर पिचाई ने प्रोजेक्ट सनकैचर पेश किया है, जिसमें पृथ्वी की निचली कक्षा (लो-अर्थ ऑर्बिट) में सौर ऊर्जा से चलने वाले उपग्रहों का नेटवर्क बनाया जाएगा, जो अंतरिक्ष में हाई-स्पीड एआइ कम्प्यूटिंग हब की तरह काम करेगा।

गूगल के आधिकारिक ब्लॉग द कीवर्ड में बताया गया कि ये उपग्रह कंपनी के खास टेंसर प्रोसेसिंग यूनिट्स (टीपीयू) से लैस होंगे। ये अंतरिक्ष डेटा सेंटर आपस में हाई-स्पीड ऑप्टिकल और लेजर लिंक से जुड़े रहेंगे, जो एक सेकंड में दर्जनों टेराबिट डेटा ट्रांसफर कर सकेंगे। इसके लिए सैटेलाइट निर्माता कंपनी प्लैनेट लैब्स के साथ साझेदारी में गूगल 2027 की शुरुआत तक दो प्रोटोटाइप एआइ उपग्रह लॉन्च करने की योजना है। इनका मकसद अंतरिक्ष में हार्डवेयर, तापमान नियंत्रण और उपग्रहों के बीच कनेक्टिविटी का परीक्षण करना है।

यह कदम ऐसे समय में उठाया जा रहा है, जब पृथ्वी पर एआइ कंप्यूटिंग की मांग तेजी से बढ़ रही है। मैकिंसे एंड कंपनी की रिपोर्ट के अनुसार, 2030 तक डेटा सेंटर की खपत आज के 60 गीगावॉट से पांच गुना तक बढ़ सकती है।

अंतरराष्ट्रीय ऊर्जा एजेंसी (आइईए) का अनुमान है कि 2030 तक दुनिया की कुल बिजली खपत का तीन फीसदी सिर्फ डेटा पर खर्च होगा। गूगल का कहना है कि अंतरिक्ष इसके लिए बेहतर विकल्प है। क्योंकि एक सोलर पैनल पृथ्वी से आठ गुना अधिक बिजली बना सकता है। सैटेलाइट्स को एक-दूसरे के बहुत करीब रखना होगा ताकि वे डेटा तेजी से ट्रांसफर कर सकें। लो अर्थ ऑर्बिट (एलईओ) में सैटेलाइट्स को बनाए रखना मुश्किल है, क्योंकि वहां ग्रेविटी और वायुमंडलीय दबाव काम करते हैं। अंतरिक्ष में गुरुत्वाकर्षण की अनियमितता, वायुमंडलीय घर्षण, विकिरण और सौर तूफान चिप्स को नुकसान पहुंचा सकते हैं।

गूगल के सीईओ सुंदर पिचाई ने बताया कि अगर सब कुछ ठीक चला तो वर्ष 2027 की शुरुआत तक गूगल प्लेनेट कंपनी के साथ मिलकर अपने दो प्रोटोटाइप सेटेलाइट लॉन्च करेगी इसके बाद प्रोजेक्ट को आगे लेकर जाएंगे। **तुषार पुरोहित, रतलाम (म.प्र.)**

अपनी बात



डॉ. खुशालसिंह पुरोहित

चीता पुनर्वास परियोजना के नये आयाम

देश में चीतों की एक और नई खेप अब दिसंबर के अंत तक आ सकती है। इनमें कुल आठ चीते लाएं जाएंगे। यह सभी अफ्रीका देश बोत्सवाना से आएंगे। इन चीतों को फिलहाल भारतीय वन्य जीव अधिकारियों की देखरेख में बोत्सवाना में ही क्वारंटाइन कर दिया गया है। चीतों को नई खेप को भी मध्य प्रदेश के कूनो अभयारण्य में ही शुरुआत में रखा जाएगा। इसके बाद इन्हें कहीं दूसरी जगह स्थानांतरित करने को लेकर फैसला लिया जाएगा।

केंद्रीय वन एवं पर्यावरण मंत्री भूपेंद्र यादव ने पिछले दिनों बताया कि इन चीतों को बोत्सवाना से लाकर कूनो में ही रखा जाएगा, क्योंकि कूनो में ही इन्हें रखने के लिए विशेष क्वारंटाइन सेल बने है। सूत्रों की मानें तो कुछ समय तक इन्हें कूनों में रखने के बाद इन्हें गुजरात के बन्नी अभयारण्य में स्थानांतरित किया जा सकता है। जिसे पिछले कई सालों के चीतों के एक ब्रीडिंग सेंटर के रूप में तैयार किया जा रहा है। बोत्सवाना में मौजूदा समय में चीतों की आबादी करीब सत्रह सौ है। वन एवं पर्यावरण मंत्रालय से जुड़े अधिकारियों के मुताबिक 2022 और 2023 में नामीबिया और दक्षिण अफ्रीका से देश में दो खेपों में 20 चीतों को लाया गया था।

चीतों का कुनबा लगातार बढ़ रहा है। यहां जन्मे चीता शावक अब वयस्क हो गए हैं और अपना कुनबा बढ़ाने के लिए तैयार हैं। चीतों के साथ ही चीता पुनर्वास परियोजना भी फर्राटा भर रही है। प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी ने 17 सितंबर 2022 को श्योपुर के पालपुर कुनो राष्ट्रीय उद्यान में अपने जन्म दिवस पर नामीबिया से लाए गए आठ चीते छोड़े थे। इसके बाद 12 चीते दक्षिण अफ्रीका से लाकर छोड़े गए। शुरुआती चरण में चीता पुनर्वास परियोजना में उतार-चढ़ाव देखने को मिला।

कई चीतों की मौत से सवाल खड़े हुए लेकिन वन विभाग की मेहनत रंग लाई। परियोजना ने अब गति पकड़ ली है। चीतों की संख्या अब 27 हो गई है। इनमें कूनो

राष्ट्रीय उद्यान में 24 चीते हैं, जिसमें से आठ चीते और शावक बाड़े में हैं। शेष खुले जंगल में हैं। प्रदेश में चीतों के दूसरे रहवास मंदसौर जिले के गांधीसागर अभयारण्य में भी चीते छोड़े गए हैं। भविष्य में रानी दुर्गावती टाइगर रिजर्व (पूर्व में नौरादेही) और उज्जैन में प्रस्तावित चिड़िया घर में भी चीतों को बसाने की तैयारी है।

वन्य जीव पर्यटन में चीतों के अलावा रातापानी, माधव और रानी दुर्गावती यह तीन नए टाइगर रिजर्व मिले हैं। बाघों की गणना भी अगले वर्ष शुरू होगी। ये सब भविष्य में प्रदेश के वन्यजीवन की नई तस्वीर दिखाएंगे। इसके अलावा पर्यटन के क्षेत्र में होम स्टे को भी महत्व मिल रहा है। इससे गांव व ग्रामीण आत्मनिर्भर बन रहे हैं। राज्य सरकार असम के साथ मिलकर व्यापार– उद्योग के साथ ईको–टूरिज्म की दिशा में भी परस्पर सहयोग, विश्वास और साझेदारी को बढ़ानेके लिए विशेष पहल करने जा रही है।

मप्र में 785 बाघ और 3,907 तेंदुए विचरण कर रहे हैं। यह संख्या देशभर के राज्यों के मुकाबले सबसे अधिक है। प्रदेश में भले ही वन्यजीवों की संख्या में वृद्धि हुई हो लेकिन उनकी सुरक्षा व संरक्षण अब भी चुनौती बनी हुई है। वन विभाग ने खुद स्वीकारा है कि में कुख्यात अंतरराष्ट्रीय शिकारी गिरोह सक्रिय हैं। प्रदेश में पिछले 10 माह में 42 बाघों की मौत हो चुकी है, इनमें तमाम मौतों कारण शिकार है।

मध्य प्रदेश और राजस्थान के संयुक्त प्रयास से चीतों का प्रबंधन और सुरक्षा की दृष्टि से चीता कारिडोर बनना है लेकिन एक साल बाद भी कुछ नहीं हुआ। अब तक न तो चीतों को लेकर दोनों राज्य मिलकर कोई निर्णय ले पाए हैं और न ही चीतों की सुरक्षा के लिए अंतरराज्यीय सीमा पर कोई ठोस उपाय किए गए। श्योपुर का पालपुर कूनो राष्ट्रीय उद्यान और गांधीसागर वन्यप्राणी अभयारण्य राजस्थान की सीमा से लगा हुआ है। यह दोनों ही वन क्षेत्र चीतों का घर हैं। प्रोजेक्ट चीता की तीन वर्ष की यात्रा चुनौतिपूर्ण रही है। यह परियोजना अब और अधिक प्रतिबद्धता के साथ आगे बढ़ रही है। पिछले तीन वर्षों में चीता परियोजना प्रबंधन टीम ने कभी हार नहीं मानने का पाठ सीखा।

चीता प्रबंधन के हर पहलू से ऐसी मूल्यवान जानकारियाँ मिलीं हैं, जिससे अनुभव रखने वाले और नए दोनों पेशेवरों की समझ में वृद्धि हुई है। किसी जीवित प्राणी के साथ काम करते समय जोखिम अनिवार्य होते हैं। पिछले तीन वर्षों में केंद्र और राज्य के वरिष्ठ अधिकारियों, फील्ड मैनेजर्स, पशु चिकित्सकों और फ्रंटलाइन स्टाफ का आत्मविश्वास मज़बूत हुआ। इन वर्षों में यह भी साबित हो गया कि मध्यप्रदेश आपात स्थितियों और प्रतिकूल परिस्थितियों का सामना करने में सक्षम है। ***

हरित और न्यायपूर्ण भविष्य की राह

डॉ. रामानुज पाठक



विकास मानव सभ्यता की सतत यात्रा है, लेकिन इस यात्रा की दिशा अब प्रश्नों के घेरे में है। क्या विकास केवल सकल घरेलू उत्पाद की वृद्धि से मापा जाएगा या मानव कल्याण, पर्यावरणीय संतुलन और सामाजिक समानता भी इसके पैमाने होंगे?

बीसवीं सदी ने औद्योगिक विस्तार और तकनीकी प्रगति से अभूतपूर्व उपलब्धियाँ दीं, परंतु उसी के साथ बढ़ा कार्बन उत्सर्जन, जलवायु असंतुलन और सामाजिक विषमता।

आज विकास के पुराने समीकरण बदल चुके हैं अब यह केवल ''तेज़ आर्थिक वृद्धि'' नहीं, बल्कि ''समानता, न्याय और स्थायित्व'' बड़ा प्रश्न बन चुका है।

''सतत विकास'' की परिकल्पना ने विश्व को यह सोचने पर विवश किया कि संसाधनों का अंधाधुंध दोहन भविष्य की पीढ़ियों के जीवनाधिकार पर आघात है। परंतु अब समय की माँग इससे भी आगे बढ़ चुकी है।

सिर्फ सतत विकास नहीं, बल्कि समावेशी सतत विकास वह मार्ग है जो पर्यावरणीय स्थिरता के साथ सामाजिक न्याय, लैंगिक समानता और आर्थिक अवसरों की समान पहुँच सुनिश्चित करता है। जलवायु परिवर्तन, गरीबी, असमानता, लैंगिक विषमता, ऊर्जा संकट और संसाधनों की होड़ ये सभी एक-दूसरे से गहराई से जुड़े हैं।

इसलिए, जब हम ''विकास'' की बात करते हैं, तो उसका अर्थ केवल ऊँची इमारतें या स्मार्ट सिटी नहीं, बल्कि एक ऐसा समाज होना चाहिए जहाँ हर व्यक्ति को गरिमा और अवसर का समान अधिकार मिले, और पृथ्वी भी सुरक्षित

रहे। यही सोच हमें न्यायपूर्ण और हरित भविष्य की राह दिखाती है एक ऐसी राह जो विज्ञान, नीति और मानवीय संवेदना तीनों को एक सूत्र में बाँधती है।

विकास केवल ऊँची इमारतों, तेज़ अर्थव्यवस्था या तकनीकी प्रगति का पर्याय नहीं रहा। आज विकास की सफलता इस पर निर्भर करती है कि वह कितनी समानता, न्याय और पर्यावरणीय संतुलन को साथ लेकर चलता है।

बीसवीं सदी के उत्तरार्ध में ''सतत विकास'' की अवधारणा ने यही संदेश दिया ''ऐसा विकास जो वर्तमान की आवश्यकताओं को पूरा करे, पर भविष्य की पीढ़ियों की जरूरतों से समझौता न करे।'' किन्तु अब समय की माँग है कि यह विकास समावेशी भी हो जिसमें प्रत्येक वर्ग, लिंग, समुदाय और क्षेत्र को बराबरी का अवसर मिले।

वर्ष 2025 तक वैश्विक तापमान में औसतन 1.3 डिग्री सेल्सियस की वृद्धि दर्ज की जा चुकी है। इसका सीधा प्रभाव कृषि, जल स्रोतों, जैव विविधता और मानव स्वास्थ्य पर पड़ रहा है। लेकिन इन प्रभावों का बोझ समान रूप से नहीं बँटता। गरीब और विकासशील देश, जो उत्सर्जन में सबसे कम योगदान करते हैं, प्रभावों के सबसे बड़े शिकार बन रहे हैं।

भारत जैसे देशों में जलवायु परिवर्तन से प्रभावित किसान, मछुआरे और ग्रामीण समुदाय रोज़ी–रोटी के संकट से जूझ रहे हैं। यही वह बिंदु है जहाँ पर्यावरणीय न्याय (एनवायरमेंटल जस्टिस) की अवधारणा सामने आती है कि विकास और संरक्षण की नीतियाँ हर वर्ग के हित में समान रूप से काम करें।

पर्यावरणीय न्याय का अर्थ केवल प्रदूषण नियंत्रण नहीं है, बल्कि यह सुनिश्चित करना भी है कि किसी समुदाय पर पर्यावरणीय क्षति का अनुपातहीन बोझ न पड़े। शहरी क्षेत्रों में वायु प्रदूषण से गरीब तबके के बच्चे अधिक बीमार होते हैं, जबकि ग्रामीण इलाकों में जलवायु परिवर्तन के कारण महिलाएँ और छोटे किसान सबसे अधिक प्रभावित होते हैं।

इसलिए नीति–निर्माताओं के सामने यह चुनौती है कि वे विकास के साथ न्यायपूर्ण वितरण प्रणाली तैयार करें ऐसी जो संसाधनों और जोखिमों को संतुलित रूप से बाँटे।

आज संयुक्त राष्ट्र, विश्व बैंक और जलवायु परिवर्तन पर अंतर–सरकारी पैनल (आईपीसीसी) जैसे संगठन इस न्याय को सतत विकास का आवश्यक घटक मानते हैं।

भारत में ''राष्ट्रीय जलवायु परिवर्तन कार्ययोजना'' (एनएपीसीसी) इसी दिशा में कई पहलें लेकर आगे बढ़

रही है। ''हरित अर्थव्यवस्था'' वह मॉडल है जिसमें आर्थिक प्रगति और पर्यावरणीय सुरक्षा दोनों एक साथ चलते हैं। इसका उद्देश्य है कार्बन उत्सर्जन में कमी, नवीकरणीय ऊर्जा का प्रसार, और हरित रोजगार का सृजन। भारत ने इस दिशा में उल्लेखनीय प्रगति की है।

सौर ऊर्जा उत्पादन क्षमता अब 80 गीगावाट से अधिक हो चुकी है और पवन ऊर्जा में भी भारत विश्व के शीर्ष पाँच देशों में शामिल है। हरित उद्योगों में बढ़ते निवेश से न केवल ऊर्जा संकट घट रहा है, बल्कि युवाओं के लिए नए अवसर भी बन रहे हैं। यह परिवर्तन दर्शाता है कि आर्थिक विकास और पर्यावरण संरक्षण एक–दूसरे के विरोधी नहीं, बल्कि पूरक हैं।

सतत विकास तभी संभव है जब महिलाएँ, पुरुष और अन्य लैंगिक समुदाय समान रूप से भागीदारी निभाएँ। ग्रामीण भारत में महिलाएँ जल, ईंधन और कृषि से जुड़ी गतिविधियों में प्रमुख भूमिका निभाती हैं, लेकिन नीतिगत निर्णयों में उनकी आवाज़ अक्सर नदारद रहती है।

संयुक्त राष्ट्र पर्यावरण कार्यक्रम (यूएनईपी) के अनुसार, जिन परियोजनाओं में महिलाओं की सक्रिय भागीदारी रही है, वहाँ संसाधनों का संरक्षण 40 फीसद अधिक प्रभावी रहा। इसलिए नीति निर्माण में लैंगिक दृष्टिकोण को अनिवार्य किया जाना चाहिए।

महिलाओं की शिक्षा, वित्तीय सशक्तिकरण और नेतृत्व को प्रोत्साहन देना, जलवायु परिवर्तन के प्रति समाज की सामूहिक लचीलापन को बढ़ाता है। सतत विकास के क्षेत्र में प्रौद्योगिकी और नवाचार निर्णायक भूमिका निभा रहे हैं।

कृत्रिम बुद्धिमत्ता आधारित मौसम पूर्वानुमान, जलवायु मॉडलिंग, सौर पैनल दक्षता में सुधार, जैव–उर्वरकों और अपशिष्ट पुनर्चक्रण की तकनीकें आज हरित विज्ञान के प्रतीक बन चुकी हैं। स्मार्ट सिटी मिशन, स्वच्छ भारत अभियान और डिजिटल इंडिया जैसे कार्यक्रमों ने संसाधन प्रबंधन में पारदर्शिता और दक्षता बढ़ाई है।

हालांकि, तकनीक तभी उपयोगी बन सकती है जब उसका सामाजिक समावेशन सुनिश्चित हो। ग्रामीण और वंचित वर्गों को तकनीकी प्रशिक्षण, इंटरनेट पहुँच और वित्तीय सहयोग देना उतना ही आवश्यक है जितना कि नई मशीनों का निर्माण।

सतत विकास का एक महत्वपूर्ण सामाजिक पहलू है मानव पूँजी का निर्माण। यदि किसी देश के नागरिक स्वस्थ, शिक्षित और सुरक्षित नहीं हैं, तो पर्यावरणीय सुधार स्थायी नहीं हो सकते।

भारत में अभी भी जलवायु परिवर्तन से जुड़े स्वास्थ्य जोखिम जैसे हीट स्ट्रोक, मलेरिया का विस्तार, और कुपोषण प्रमुख चिंताएँ हैं।

इसी प्रकार, शिक्षा और श्रम बाजार में लैंगिक असमानताएँ सतत विकास की गति को धीमा करती हैं। राष्ट्रीय शिक्षा नीति (2020) और महिला श्रमिक सशक्तिकरण कार्यक्रम इस दिशा में महत्वपूर्ण कदम हैं, परंतु इनके साथ सामाजिक दृष्टिकोण में परिवर्तन भी आवश्यक है।

सतत भविष्य के लिए नीतियाँ ऐसी होनी चाहिए जो ''सबके लिए, सबके साथ'' के सिद्धांत पर आधारित हों। इसमें सरकार, निजी क्षेत्र, स्थानीय समुदाय, वैज्ञानिक संस्थान और नागरिक समाज सभी की सहभागिता आवश्यक है। नीति निर्माण में स्थानीय ज्ञान और पारंपरिक प्रथाओं का सम्मान भी उतना ही जरूरी है। उदाहरण के लिए, उत्तर–पूर्व भारत में बांस आधारित उद्योगों या राजस्थान के परंपरागत जल–संरक्षण तंत्र को आधुनिक तकनीक से जोड़कर स्थानीय रोजगार और पर्यावरणीय सुरक्षा दोनों सुनिश्चित किए जा सकते हैं। यही समावेशी नीति–निर्माण का आधार है।

सतत विकास केवल राष्ट्रीय सीमाओं तक सीमित नहीं है; यह एक वैश्विक जिम्मेदारी है।

विकसित देशों को विकासशील देशों के लिए ''जलवायु वित्त'' और तकनीकी सहायता बढ़ानी होगी। ''पेरिस समझौता'' और ''कोप'' शिखर सम्मेलनों में इस दिशा में कई वादे हुए हैं, पर वास्तविक अमल अभी भी धीमा है।

भारत, अफ्रीका और लातिन अमेरिकी देशों को सस्ती हरित तकनीक, जलवायु बीमा और सतत अवसंरचना में निवेश की जरूरत है। साझा उत्तरदायित्व और समान अवसर की भावना ही इस वैश्विक प्रयास को स्थायी बना सकती है। सतत विकास का अर्थ केवल पर्यावरण की रक्षा नहीं है यह मानवता की रक्षा का सूत्र है। जब विकास समावेशी होता है, तो उसमें न्याय, समानता और स्थायित्व तीनों समाहित हो जाते हैं।

हर व्यक्ति को स्वच्छ वायु, सुरक्षित जल, शिक्षा, स्वास्थ्य और गरिमापूर्ण जीवन का अधिकार तभी मिल सकता है जब हमारी नीतियाँ ''मानव–केंद्रित'' और ''प्रकृति–संवेदनशील'' दोनों हों। भारत जैसे विविधतापूर्ण देश के लिए ''समावेशी सतत विकास'' केवल नीति नहीं, बल्कि भविष्य की जीवनरेखा है एक ऐसी राह जो हरित भी है, न्यायपूर्ण भी, और मानवता के लिए दीर्घकालिक आशा का स्रोत भी।

सतत विकास केवल एक नीति या कार्यक्रम नहीं, बल्कि यह मानव सभ्यता का पुनर्मूल्यांकन है। यह हमें यह सोचने पर विवश करता है कि क्या हमारी प्रगति पृथ्वी के संतुलन, समाज की समानता और आने वाली पीढ़ियों के अधिकारों के साथ सामंजस्य रखती है या नहीं।

आज मानवता एक निर्णायक मोड़ पर खड़ी है एक ओर तकनीकी तीव्रता और उपभोग की लालसा, तो दूसरी ओर जलवायु संकट, जैव विविधता का ह्रास और सामाजिक विभाजन। इन दोनों के बीच संतुलन स्थापित करना ही ''समावेशी सतत विकास'' का वास्तविक उद्देश्य है।

यह विचार हमें बताता है कि विकास का अर्थ केवल उत्पादन नहीं, बल्कि संरक्षण भी है; केवल अर्थव्यवस्था नहीं, बल्कि नैतिकता भी है। जब विकास समावेशी बनता है, तो वह समाज के हर तबके को अपने साथ जोड़ता है चाहे वह किसान हो या वैज्ञानिक, महिला हो या उद्यमी, शहरी मजदूर हो या ग्रामीण पर्यावरण प्रहरी।

भारत जैसे विशाल और विविध देश के लिए यह न केवल चुनौती है बल्कि अवसर भी। हमारे प्राचीन ग्रंथों में ''सर्वे भवन्तु सुखिनः'' और ''प्रकृति रक्षणे रक्षितः'' जैसे विचार यह दर्शाते हैं कि समावेश और संरक्षण भारतीय संस्कृति के मूल में हैं।

यदि इन मूल्यों को आधुनिक विज्ञान, हरित तकनीक और नीतिगत पारदर्शिता के साथ जोड़ा जाए, तो भारत दुनिया के लिए सतत विकास का आदर्श मॉडल बन सकता है।

आवश्यक है कि सरकारें हरित निवेश और समान अवसर पर बल दें, उद्योग स्वच्छ तकनीक अपनाएँ, और नागरिक जिम्मेदार उपभोग की संस्कृति विकसित करें।

यही त्रिस्तरीय प्रयास हमें एक ऐसे भविष्य की ओर ले जाएगा जहाँ विकास और पर्यावरण, विज्ञान और संस्कृति, न्याय और समानता सभी एक साथ चलें। समावेशी सतत विकास केवल एक अवधारणा नहीं, बल्कि यह न्यायपूर्ण, हरित और मानवीय विश्व की दिशा में चलने का आमंत्रण है एक ऐसी यात्रा, जहाँ पृथ्वी की समृद्धि और मानवता का उत्थान एक ही धारा में प्रवाहित हों। ***

** चिपको संदेश **

क्या हैं वनों के उपकार,
मिट्टी, पानी और बयार ।
मिट्टी, पानी और बयार,
ये जिंदा रहने के आधार ।।

हाथी : संकट में है धरती के दिग्गज

योगेश कुमार गोयल



हाथी धरती पर सबसे बड़े जमीनी जानवर हैं, जो झुंड में रहने वाले बुद्धिमान सामाजिक प्राणी हैं। दुनियाभर की विभिन्न संस्कृतियों में हाथी को प्यार, सम्मान और आदर दिया जाता रहा है, लेकिन फिर भी यह चिंता का बड़ा कारण है कि एशिया तथा अफ्रीका जैसे विशाल महाद्वीपों में धरती का यह शानदार प्राणी अंतिम दर्शन के कगार पर है।

कुछ अनुमानों के अनुसार पिछले कुछ वर्षों में ही हाथियों की संख्या में भारी गिरावट आई है और हाथियों के संरक्षण के लिए यदि तत्काल सुरक्षात्मक उपाय नहीं किए गए तो आने वाले समय में अधिकांश हाथी समाप्त हो सकते हैं। इसी कारण एशियाई और अफ्रीकी हाथियों की गंभीर दुर्दशा की ओर पूरी दुनिया का ध्यान आकर्षित करने के लिए विशेष प्रयास किए जाते हैं।

हाथियों के प्राकृतिक आवास खत्म होते जाने से हाथियों के साथ मानव संघर्ष लगातार बढ़ रहा है। इसी संघर्ष के फलस्वरूप हाथियों को पकड़ लिया जाता है या मार दिया जाता है। पकड़े गए ऐसे ही कुछ हाथियों को चिड़ियाघरों तथा सर्कसों में भेज दिया जाता है, जहां वे जीवनभर करतब दिखाने में ही बिता देते हैं।

कृषि और बुनियादी ढांचे के विकास के लिए हम हाथियों के पारंपरिक आवासों पर लगातार अतिक्रमण कर रहे हैं और मानवजनित दबाव के कारण हाथियों को उनके आवासों से बाहर खदेड़ा जा रहा है।

हाथियों के चरने के क्षेत्र में पशुओं के चरने और औद्योगिक विकास का दबाव निरंतर बढ़ रहा है, जिससे हाथियों के लिए उपलब्ध भोजन की मात्रा प्रभावित हो रही है और भूख से व्याकुल

घबराए हुए हाथियों द्वारा आसपास के लोगों पर हमला किए जाने की संभावनाएं बढ़ रही हैं।

जंगलों में घूमने वाले हाथियों के पास अब अलग–थलग पड़ी जमीन के छोटे–छोटे हिस्से ही रह गए हैं। जब ये भूखे हाथी बस्तियों में प्रवेश करते हैं तो एक ही रात में किसानों की सालभर की मेहनत नष्ट कर देते हैं।

ऐसी परिस्थितियों में आजीविका के लिए फसलों पर निर्भर रहने वाले समुदायों में आक्रोश पनपता है, जिसकी परिणति मानव और हाथी संघर्ष के रूप में होती है। इस संघर्ष में दोनों या तो घायल होते हैं या मारे जाते हैं।

विभिन्न शोधों से यह स्पष्ट हो चुका है कि मानव बस्तियां, सड़कें, रेलवे लाइनें, नहरें और गलियारे वाले क्षेत्रों में अतिक्रमण जैसी रैखिक अवसंरचनाएं मानव बस्तियों में हाथियों के प्रवेश के प्रमुख कारण हैं। सड़कें, रेलवे लाइनें, पाइपलाइन, कारखाने और मानव बस्तियां वन्यजीवों की आवाजाही में बाधा बन रही हैं, जिससे उनके प्राकृतिक आवास छोटे–छोटे टुकड़ों में विभाजित हो रहे हैं।

वन्यजीवों के अलग–थलग आवास के इन द्वीपों को जोड़ने के लिए गलियारों के बिना झुंडों को भोजन और पानी तक पहुंचने में परेशानी होती है और वे अपने समूह से भी अलग हो जाते हैं, जिससे उनके सामाजिककरण और प्रजनन के अवसर कम हो जाते हैं।

वन्यजीव विशेषज्ञों के अनुसार एशिया और अफ्रीका में यह स्थिति हाथियों के अस्तित्व के लिए अत्यंत चिंताजनक है। एशियाई हाथियों की वैश्विक आबादी का अधिकांश हिस्सा भारत में है। देश के कई राज्यों में हाथियों के लिए वन क्षेत्र सुरक्षित हैं, लेकिन यहां भी हर साल बड़ी संख्या में हाथी मानव–हाथी संघर्ष के कारण जान से मार दिए जाते हैं और कई मनुष्य भी इस संघर्ष में अपनी जान गंवाते हैं। मानव–हाथी संघर्ष से हुई कुल मौतों का अधिकांश हिस्सा कुछ राज्यों में केंद्रित है।

हाथियों की संख्या में गिरावट के प्रमुख कारणों में आवास की क्षति के अलावा मानव– हाथी संघर्ष, कैद में दुर्व्यवहार और अवैध शिकार शामिल हैं।

एक अनुमान के अनुसार हाथी दांत, मांस और शरीर के अंगों की तलाश में शिकारियों द्वारा प्रतिदिन अनेक अफ्रीकी हाथियों को मार दिया जाता है। चीन में हाथी दांत की कीमतें बढ़ जाने के कारण हाथियों का अवैध शिकार तेजी से बढ़ा।

एशिया में भी हाथी दांत के लिए हजारों अफ्रीकी हाथियों को मार डाला जाता है। हाथी दांत के लिए अवैध शिकार

और बंदी वन्यजीव उद्योग के लिए जंगली जानवरों को पकड़ने के कारण अफ्रीकी और एशियाई हाथियों को जंगल में खतरा है। जंगली हाथियों का सीमा पार व्यापार भी होता है और भारत से नेपाल में जीवित हाथियों की तस्करी के कुछ मामले सामने आ चुके हैं।

भारत में एशियाई हाथी को वन्यजीव संरक्षण अधिनियम के तहत अनुसूची 1 के जानवर के रूप में संरक्षित किया गया है और जंगल में उनकी स्थिति को मजबूत करने तथा अवैध शिकार को रोकने के लिए उन्हें 'भारत का राष्ट्रीय विरासत पशु' भी घोषित किया गया है।

थाईलैंड, भारत, लाओस, कंबोडिया, नेपाल, श्रीलंका, मलेशिया आदि देशों में किए गए अध्ययनों से पता चला है कि पूरे एशिया में पर्यटकों के मनोरंजन के लिए अनेक शिविरों में हजारों हाथी बंदी हैं। इनमें से अधिकांश गंभीर रूप से भयावह परिस्थितियों में पीड़ित हैं, जबकि बहुत कम हाथी ही उच्च कल्याण स्थलों पर रखे गए हैं।

अध्ययनों के अनुसार बंदी हाथियों के साथ अक्सर दुर्व्यवहार किया जाता है, जिनमें से अधिकांश पैर की समस्याओं और आंखों की बीमारियों से ग्रस्त हैं।

भारत के पर्यावरण, वन और जलवायु परिवर्तन मंत्रालय के अनुसार देश में हजारों जंगली हाथी हैं, जिनमें से कुछ सैकड़ों बंदी अवस्था में हैं। इनमें से कई निजी स्वामित्व में हैं जबकि बाकी विभिन्न राज्यों के वन विभाग की देखरेख में रखे गए हैं।

निजी हिरासत में बंदी हाथियों का स्वामित्व कुछ मंदिरों और प्रभावशाली व्यक्तियों के पास है, जो हाथियों को 'स्टेटस सिंबल' के रूप में रखते हैं।

वन्यजीव विशेषज्ञों का मानना है कि पर्यटक संपर्क के लिए उपयोग किए जाने वाले सभी हाथियों को दर्दनाक प्रशिक्षण से गुजरना पड़ता है, जिसमें बच्चों को उनकी मां से अलग करना, उन्हें अलग-थलग रखना, भोजन-पानी से वंचित करना तथा जब तक वे डर से नियंत्रित न किए जा सकें, तब तक उन्हें बार-बार पीटना शामिल है।

विशेषज्ञों का कहना है कि अफ्रीकी तथा एशियाई हाथी मानव कैद में रहने के लिए उपयुक्त नहीं हैं और इनमें से बड़ी संख्या में हाथी युवावस्था में ही मर जाते हैं।

मानव- हाथी संघर्ष को कम करने और संघर्षरत हाथियों को पकड़ने से रोकने में वन्यजीव गलियारों का निर्माण एक अत्यंत महत्वपूर्ण कदम हो सकता है। ***

पुराने बांधों की नई चुनौती

हिमांशु ठक्कर



भारत जल संसाधनों के प्रबंधन में लंबे समय से बांधों पर अत्यधिक निर्भर रहा है। इन बांधों ने सिंचाई, बिजली उत्पादन, पेयजल आपूर्ति और बाढ़ नियंत्रण जैसे क्षेत्रों में दशकों तक महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। किंतु अब यह प्रश्न अधिक प्रासंगिक हो गया है कि क्या ये विशाल संरचनाएँ आज की जलवायु और सामाजिक परिस्थितियों के अनुरूप सुरक्षित, उपयोगी और टिकाऊ हैं।

बीते कुछ वर्षों में जल शक्ति मंत्रालय की संसदीय समिति ने बार–बार इस विषय पर चिंता जताई है और बांधों के जीवनकाल, सुरक्षा, रखरखाव तथा संभावित जोखिमों के व्यवस्थित मूल्यांकन के लिए एक सशक्त राष्ट्रीय तंत्र विकसित करने की सिफारिश की है।

विभाग द्वारा संसद में दिए गए उत्तरों से यह स्पष्ट हुआ है कि अब तक भारत में बड़े बांधों के व्यावहारिक जीवनकाल और परिचालन प्रदर्शन का आकलन करने के लिए कोई औपचारिक और नियमित प्रणाली मौजूद नहीं है। इस तथ्य को देखते हुए यह भी उल्लेखनीय है कि किसी भी पुराने या असुरक्षित बांध को हटाने का कोई ठोस प्रस्ताव या निर्णय अभी तक नहीं लिया गया है। इसका अर्थ यह है कि भारत में बांधों की दीर्घकालिक सुरक्षा, संरचनात्मक मूल्यांकन और पर्यावरणीय प्रभाव के प्रबंधन के लिए एक एकीकृत दृष्टिकोण का अभाव है।

वर्तमान में भारत में केंद्रीय जल आयोग के अनुसार 6,100 से अधिक बड़े बांध हैं, और लगभग 140 नए बांध निर्माणाधीन हैं। इनमें से 220 से अधिक बांध ऐसे हैं जो एक सदी से अधिक पुराने हैं, जबकि लगभग एक हजार बांधों की

उम्र पचास वर्ष से ऊपर हो चुकी है। इन आंकड़ों से स्पष्ट है कि देश की जल संरचनाओं का एक बड़ा हिस्सा अपनी उम्र के अंतिम चरण में पहुँच चुका है। विशेषज्ञ मानते हैं कि अधिकांश बांधों की उपयोगिता अवधि लगभग 100 वर्ष मानी जाती है, किंतु वास्तविक परिस्थितियों में गाद भराव, मरम्मत की कमी और जलवायु परिवर्तन के प्रभाव से इनकी उम्र और कम हो जाती है।

पुराने बांधों के रखरखाव की स्थिति देश में बहुत संतोषजनक नहीं मानी जाती। कई राज्यों में बजटीय सीमाओं और तकनीकी कर्मियों की कमी के कारण नियमित निरीक्षण और रखरखाव का कार्य बाधित रहता है।

परिणामस्वरूप, कई बांध संरचनात्मक दृष्टि से कमजोर हो चुके हैं और (निचले इलाकों) में रहने वाले लोगों तथा बुनियादी ढांचे के लिए संभावित खतरा बनते जा रहे हैं। जल आयोग द्वारा शुरू किए गए ''बांध पुनर्वास और सुधार परियोजना '' का उद्देश्य इन जोखिमों को कम करना है, किंतु इसकी कवरेज अभी भी सीमित है।

विशेषज्ञों का मानना है कि भारत को एक स्थायी '' नेशनल डेम सेफ्टी डिकमीशनिंग फ्रेमवर्क '' तैयार करना चाहिए जो बांधों की नियमित सुरक्षा समीक्षा, जीवनचक्र मूल्यांकन और निष्क्रिय या हटाए जाने योग्य बांधों की पहचान सुनिश्चित करे।

दुनिया के अन्य देशों से भारत बहुत कुछ सीख सकता है। संयुक्त राज्य अमेरिका, फ्रांस और स्वीडन जैसे देशों ने सैकड़ों पुराने और अप्रभावी बांधों को हटाकर अपनी नदियों को पुनर्जीवित किया है। 2024 तक केवल अमेरिका में ही दो हजार से अधिक बांध हटाए जा चुके हैं।

इन परियोजनाओं ने नदियों की पारिस्थितिकी में सुधार, मछलियों की आवाजाही की बहाली और बाढ़ नियंत्रण में अप्रत्याशित सकारात्मक परिणाम दिए हैं। इन देशों का अनुभव बताता है कि बांध हटाने की प्रक्रिया जटिल, दीर्घकालिक और बहु–पक्षीय होती है, लेकिन सही योजना और जनभागीदारी से यह संभव और लाभकारी है।

भारत में भी कुछ बांध ऐसे हैं जिन्हें हटाने की आवश्यकता पर लंबे समय से चर्चा चल रही है। केरल की पेरियार नदी पर स्थित मुलापेरियार बांध लगभग 130 वर्ष पुराना है और इसकी संरचनात्मक सुरक्षा को लेकर केरल और तमिलनाडु के बीच विवाद अब भी जारी है। इस बांध के आसपास के क्षेत्रों में जनसुरक्षा को लेकर गहरी चिंता व्यक्त की

जा चुकी है।

इसी तरह, बिहार के मुख्यमंत्री द्वारा बार–बार फरक्का बैराज को हटाने की मांग की गई है, क्योंकि इसके कारण गंगा में गाद जमाव, जल निकासी में बाधा और बिहार में बाढ़ की तीव्रता में वृद्धि देखी गई है। त्रिपुरा का डंबुर बांध भी कम बिजली उत्पादन और पर्यावरणीय प्रभावों के कारण हटाए जाने की चर्चाओं में रहा है। मध्य प्रदेश का महेश्वर बांध परियोजना आर्थिक रूप से अनुपयोगी साबित होने के कारण आलोचना का विषय रही है।

इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि भारत को अब एक ऐसी नीतिगत रूपरेखा की आवश्यकता है जो पुराने, अवांछित और जोखिमपूर्ण बांधों के व्यवस्थित पुनर्मूल्यांकन और आवश्यकता पड़ने पर उनके चरणबद्ध हटाने की प्रक्रिया को परिभाषित करे। इस प्रक्रिया में पर्यावरण, सामाजिक न्याय और स्थानीय समुदायों की भागीदारी को प्राथमिकता दी जानी चाहिए।

हाल के वर्षों में कई बांध और जलविद्युत परियोजनाएँ प्राकृतिक आपदाओं में क्षतिग्रस्त हुई हैं। तीस्ता नदी पर स्थित तीस्ता– परियोजना में 2023 में ग्लेशियर झील फटने की घटना के बाद भारी विनाश हुआ। उत्तराखंड में ऋषिगंगा और तपोवन–विष्णुगाड परियोजनाएँ पहले ही बाढ़ और भूस्खलन से नष्ट हो चुकी हैं।

महाराष्ट्र–तेलंगाना सीमा पर मेडीगड्डा बैराज के खंभों के धँसने की घटना ने यह दिखा दिया कि नियमित तकनीकी ऑडिट और निगरानी कितनी आवश्यक है। इन घटनाओं से यह स्पष्ट होता है कि जलवायु परिवर्तन और तीव्र वर्षा पैटर्न के कारण बांधों की संरचनात्मक सुरक्षा गंभीर खतरे में है।

विशेषज्ञों का कहना है कि अब अधिकांश बांधों की डिज़ाइन क्षमता पुराने वर्षा पैटर्न पर आधारित है। लेकिन आज बाढ़ की आवृत्ति और तीव्रता दोनों ही बढ़ गई हैं। बांधों के स्पिलवे अक्सर इतनी बड़ी बाढ़ को झेलने में सक्षम नहीं होते, जिससे ओवर–टॉपिंग और संरचनात्मक क्षति का खतरा बढ़ जाता है। इस जोखिम को कम करने के लिए हीराकुंड जैसे पुराने बांधों पर स्पिलवे क्षमता बढ़ाने का कार्य चल रहा है, परंतु यह अत्यंत महंगा और तकनीकी दृष्टि से कठिन कार्य है।

इसके अलावा, अधिकांश बांधों में गाद भराव ने उनकी   को गंभीर रूप से घटा दिया है। परिणामस्वरूप, इन बांधों की सिंचाई, जल आपूर्ति और बिजली उत्पादन क्षमता लगातार घटती जा रही है।

इसके बावजूद इनकी रखरखाव लागत बढ़ रही है, जिससे वे आर्थिक दृष्टि

से भी अप्रभावी हो रहे हैं। कई अध्ययनों से यह भी सामने आया है कि पुराने बांधों की वजह से निचले इलाकों में नदी प्रवाह बाधित होता है, जिससे जैव विविधता और मत्स्य–संसाधनों पर विपरीत प्रभाव पड़ता है।

इन सभी परिस्थितियों में यह आवश्यक है कि भारत बांधों को केवल इंजीनियरिंग संरचना के रूप में नहीं बल्कि एक व्यापक सामाजिक–पर्यावरणीय इकाई के रूप में देखे। नीति–निर्माताओं को चाहिए कि वे बांधों की सुरक्षा समीक्षा, पुनरुद्धार और निष्क्रियता को जलवायु परिवर्तन अनुकूलन रणनीति से जोड़ें। यह समझना आवश्यक है कि हर बांध अनंत काल तक उपयोगी नहीं रह सकता; कुछ बांधों का हटाया जाना नदियों के पुनर्जागरण और लोगों की सुरक्षा दोनों के लिए आवश्यक हो सकता है।

जलवायु परिवर्तन के प्रभाव के चलते भारत में तीव्र वर्षा की घटनाएँ, फ्लैश–फ्लड और भूस्खलन की आवृत्ति में तेजी आई है। ऐसी स्थिति में यदि पुराने बांध अपनी क्षमता से अधिक दबाव झेलने को विवश होंगे, तो यह न केवल पर्यावरण बल्कि जनजीवन के लिए भी बड़ा खतरा बन सकता है।

बांधों की मरम्मत, स्पिलवे क्षमता वृद्धि और गाद निष्कासन की परियोजनाएँ बहुत महँगी हैं, और कई बार इनकी लागत नए बांध निर्माण से भी अधिक हो जाती है। इसलिए जहां पुनर्निर्माण संभव न हो, वहां नियंत्रित तरीके से बांध हटाने का विकल्प अपनाना ही विवेकपूर्ण निर्णय होगा।

भारत सहित पूरी दुनिया अब यह समझ रही है कि प्रकृति–आधारित समाधान ही दीर्घकालिक उत्तर हैं। मुक्त बहने वाली नदियाँ पारिस्थितिक संतुलन, आजीविका और सांस्कृतिक स्थिरता के लिए आवश्यक हैं। यदि हम पुराने और जोखिमपूर्ण बांधों को चरणबद्ध तरीके से हटाकर नदियों को पुनर्जीवित करते हैं, तो यह न केवल पर्यावरणीय दृष्टि से लाभकारी होगा, बल्कि यह भविष्य की जल नीति को भी अधिक सतत दिशा देगा।

इस परिप्रेक्ष्य में भारत को एक स्पष्ट राष्ट्रीय नीति की आवश्यकता है, जो बांधों की नियमित सुरक्षा समीक्षा, जीवनचक्र आकलन और हटाने योग्य संरचनाओं की पहचान सुनिश्चित करे। इस नीति में राज्य सरकारों, विशेषज्ञ संस्थानों, स्थानीय समुदायों और नागरिक समाज की साझेदारी को संस्थागत रूप देना होगा। बांध सुरक्षा अधिनियम, 2021, एक प्रारंभिक कदम है, परंतु इसे लागू करने और डीकमीशनिंग नीति को जोड़ने की आवश्यकता है। ***

खेती बाड़ी में महिलाओं की भागीदारी

निलेश देसाई



भारत की कृषि अर्थव्यवस्था को अक्सर ''अन्नदाता पुरुष किसान'' के रूप में देखा जाता है। खेतों की तस्वीरों में हल चलाते या मंडी में सौदा करते पुरुष दिखते हैं, परंतु इस दृश्य के पीछे वह श्रम है जो दिखाई नहीं देतामहिलाओं का। वे खेत में बीज डालती हैं, पौध रोपती हैं, निराई-गुड़ाई करती हैं, फसल काटती हैं, मवेशियों की देखभाल करती हैं और घर की रसोई तक अनाज पहुंचाती हैं।

फिर भी, न तो उन्हें किसान कहा जाता है, न नीति में वह स्थान मिलता है जिसकी वे अधिकारी हैं। भारत में कृषि जनगणना (2015-16) बताती है कि कुल कृषि श्रम का लगभग 73 प्रतिशत कार्य महिलाएं करती हैं, लेकिन ज़मीन के स्वामित्व में उनका हिस्सा केवल 13 प्रतिशत है। यह असमानता केवल आंकड़ों में नहीं, बल्कि पहचान के संकट में हैवे किसान हैं, पर ''किसान'' नहीं कहलातीं।

झाबुआ जैसे आदिवासी इलाकों में यह स्थिति और गहराई से महसूस होती है। संपर्क संस्था के लंबे अनुभव बताते हैं कि महिलाएं खेती की हर प्रक्रिया में केंद्रीय भूमिका निभाती हैं। वे ही बीजों का चयन और संरक्षण करती हैं, पौधों की रोपाई, निराई-गुड़ाई, जैविक खाद की तैयारी, फसल कटाई और पशुपालन तक हर काम संभालती हैं। इन कार्यों में उनका पारंपरिक ज्ञान, मौसमी समझ और बारीकी से जुड़ी मेहनत ही स्थानीय खेती को टिकाऊ बनाए रखती है। विशेष रूप से छोटे और सीमांत किसानों के परिवारों में महिलाएं खेत और घर के बीच पुल की तरह हैंएक ओर वे उत्पादन में लगी हैं, दूसरी ओर घर की खाद्य सुरक्षा और पोषण की जिम्मेदारी भी उन्हीं पर है।

संपर्क संस्था द्वारा संचालित कई

गांवों में जब ''महिला खेत पाठशालाएं'' शुरू की गईं, तो यह पहली बार सामने आया कि महिलाएं कितनी गहरी कृषि समझ रखती हैं। मिट्टी परीक्षण, देसी बीजों की पहचान, गोमूत्र और नीम से जैविक घोल तैयार करने की विधियांये सब वे सहज रूप से जानती थीं। परंतु जब प्रशिक्षण या योजना की बात आती थी, तो सरकारी अभिलेखों में किसान के रूप में केवल पुरुष का नाम दर्ज होता था। परिणामस्वरूप महिलाएं कृषि ऋण, फसल बीमा, या किसान क्रेडिट कार्ड जैसी सुविधाओं से वंचित रह जाती थीं।

झाबुआ में कई बार यह भी देखा गया कि जब सूखा या बेमौसमी वर्षा ने फसल को नुकसान पहुंचाया, तो महिलाओं ने ही वैकल्पिक आजीविका के उपाय खोजेसब्जी बाड़ी, बकरी पालन, या देसी बीजों का आदान-प्रदान। संपर्क संस्था द्वारा संचालित ''पशु सखी'' कार्यक्रम में दर्जनों महिलाएं प्रशिक्षित होकर न केवल अपने गांव में पशु स्वास्थ्य की सेवा दे रही हैं, बल्कि अतिरिक्त आमदनी भी अर्जित कर रही हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि जब महिलाओं को निर्णय का अधिकार और तकनीकी सहयोग मिलता है, तो वे न केवल उत्पादन बढ़ाती हैं बल्कि पूरे समुदाय की आर्थिक स्थिरता को भी मजबूत करती हैं।

जलवायु परिवर्तन के दौर में यह भूमिका और भी महत्वपूर्ण हो गई है। जब वर्षा चक्र अनिश्चित हो रहे हैं, जलस्रोत सूख रहे हैं, और मिट्टी की उर्वरता घट रही है, तब महिलाएं अपने अनुभव और पारंपरिक ज्ञान से अनुकूलन () के नए रास्ते खोज रही हैं। झाबुआ के कुछ गांवों में महिलाओं ने सामूहिक रूप से देसी बीज बैंक बनाए हैं, स्थानीय फसलों की मिश्रित खेती शुरू की है और खेतों में जल संरक्षण के लिए छोटे-छोटे गड्ढे और बोरी बंधान तैयार किए हैं। यह कार्य संपर्क संस्था के मार्गदर्शन में हुआ है, पर असली नेतृत्व गांव की महिलाओं ने ही निभाया है। उनके अनुसार ''जल और बीज दोनों को बचाना ही आने वाले समय में खेती को बचाना है।''

कृषि नीति के स्तर पर देखें तो महिला किसानों की पहचान अभी भी अधूरी है। भूमि का स्वामित्व प्रायः पुरुषों के नाम पर होता है, जिससे महिलाएं ''सहायक'' के रूप में देखी जाती हैं, ''निर्णयकर्ता'' के रूप में नहीं। संपर्क के अनुभव बताते हैं कि जहां-जहां भूमि का संयुक्त स्वामित्व पति-पत्नी के नाम पर हुआ, वहां महिलाओं की भागीदारी निर्णयों में स्पष्ट रूप से बढ़ी है। वे न केवल तकनीकी सलाह लेती हैं, बल्कि बाजार से सौदे भी खुद तय करने लगी हैं। यह

आत्मविश्वास केवल अधिकार से आता है। नीतियों में भी अब यह मान्यता दी जानी चाहिए कि किसान केवल वह नहीं जो हल चलाता है, बल्कि वह भी जो मिट्टी की नमी, बीज की पहचान, पशु की सेहत और घर की थालीसबके बीच संतुलन बनाए रखता है। किसान एक प्रक्रिया है, और इस प्रक्रिया का आधा हिस्सा महिलाएं निभा रही हैं। यदि हम टिकाऊ और न्यायपूर्ण कृषि की दिशा में बढ़ना चाहते हैं, तो महिला किसानों को नीति, योजना और संसाधनों में बराबर की हिस्सेदारी देना अनिवार्य है।

झाबुआ के अनुभव यह भी बताते हैं कि जब महिलाएं संगठित होती हैं, तो केवल खेत ही नहीं, पूरा समुदाय बदलता है। महिला किसान समूहों ने न केवल अपनी खेती सुधारी, बल्कि गांवों में बच्चों की शिक्षा, पोषण और स्वच्छता के मुद्दों पर भी सक्रिय भूमिका निभाई। उन्होंने सिद्ध किया कि ''कृषि'' केवल उत्पादन नहीं, बल्कि जीवन जीने की सामूहिक प्रक्रिया है।

भारत के खेतों में हर उगती फसल, हर बोया बीज किसी न किसी महिला के हाथों से जुड़ा है। फिर भी जब नीतियां बनती हैं, तो उनका नाम सूचियों में नहीं होता। अब समय है कि यह अदृश्यता समाप्त हो। खेत की आधी आबादी को नीति में आधी हिस्सेदारी मिलनी चाहिए। जब महिलाएं किसान के रूप में पहचानी जाएंगी, तभी भारतीय कृषि सचमुच ''समानता, स्थायित्व और सम्मान'' की दिशा में आगे बढ़ेगी। ***

दक्षिण एशिया में गर्मी से हर घण्टे 46 मौतें

जलवायु परिवर्तन के बढ़ते प्रभावों के बीच दक्षिण एशिया में अत्यधिक गर्मी एक बड़ी जानलेवा समस्या बनती जा रही है। यह इतनी बड़ी समस्या बन गई है कि इससे होने वाली मौतें बढ़ रही हैं। एक नई रिपोर्ट के अनुसार, अगर ऐसी ही गर्मी जारी रही तो 2045 तक दक्षिण एशिया में हर घंटे 46 लोगों की मौत सिर्फ गर्मी से हो सकती है। यह रिपोर्ट 'ट्रॉपिकल मेडिसिन एंड हेल्थ' जर्नल में प्रकाशित हुई है। इसमें 1990 से 2021 तक के आंकड़ों का विश्लेषण कर यह अनुमान लगाया गया है कि आने वाले वर्षों में तापमान से जुड़ी बीमारियों का असर कितना बढ़ सकता है।

रिपोर्ट बताती है कि दक्षिण एशिया में हर साल 2 लाख से अधिक लोग बेहद गर्मी से जान गंवा रहे हैं। अनुमान है कि 2045 तक यह संख्या लगभग 4 लाख प्रति वर्ष तक पहुंच सकती है। यानी हर घंटे 46 लोगों की मौत हो सकती है।

बढ़ता शहरीकरण और जलवायु परिवर्तन

विभा कनन



21वीं शताब्दी मानव इतिहास की सबसे तीव्र परिवर्तनकारी शताब्दी बन चुकी है। तकनीकी प्रगति, औद्योगिक विकास, जनसंख्या विस्फोट और संसाधनों के अत्यधिक दोहन के बीच एक नया संकट तेजी से उभर रहा है शहरीकरण और जलवायु परिवर्तन का गहराता संबंध।

विश्व की जनसंख्या का एक बड़ा हिस्सा आज शहरों में बस चुका है और अगले कुछ दशकों में यह प्रतिशत 70 प्रतिशत से अधिक हो जाएगा। इसका अर्थ यह है कि आने वाले समय में मानव जीवन का भविष्य इस बात पर निर्भर करेगा कि हमारे शहर कितने जलवायु–सक्षम, हरित और टिकाऊ बन पाते हैं। परंतु प्रश्न यह है कि क्या हमारे वर्तमान शहर इस चुनौती से निपटने के लिए तैयार हैं? क्या हम ऐसे शहरी ढाँचे का निर्माण कर पा रहे हैं जो विकास के साथ–साथ पर्यावरणीय संतुलन को भी बनाए रख सके?

शहरीकरण का अर्थ है ग्रामीण क्षेत्रों से लोगों का शहरों की ओर पलायन, जिसके परिणामस्वरूप शहरों का आकार, जनसंख्या और संसाधनों की मांग तीव्र गति से बढ़ती जाती है। भारत जैसे विकासशील देश में यह प्रक्रिया अत्यंत तेज़ी से आगे बढ़ रही है। ग्रामीण बेरोज़गारी, शिक्षा, स्वास्थ्य सुविधाओं और रोजगार की बेहतर संभावनाओं की तलाश में लोग लगातार शहरों की ओर आकर्षित हो रहे हैं। परिणामस्वरूप महानगरों का जनसंख्या घनत्व लगातार बढ़ रहा है और इसके साथ ही संसाधनों पर अत्यधिक दबाव भी उत्पन्न हो गया है।

स्मार्ट सिटी परियोजनाओं, मेट्रो नेटवर्क, एक्सप्रेसवे और ऊँची आवासीय इमारतों ने शहरों को आधुनिक स्वरूप तो दिया है, पर इसके साथ अनेक गंभीर

पर्यावरणीय समस्याएँ भी सामने आई हैं। हरित क्षेत्र की कटौती, जल निकासी की विफलता, कचरा प्रबंधन की समस्या, प्रदूषण में वृद्धि और तापमान का असामान्य बढ़ना अब लगभग हर शहर की पहचान बन चुके हैं।

शहरीकरण और जलवायु परिवर्तन का संबंध अत्यंत जटिल है, क्योंकि शहर एक ओर जलवायु परिवर्तन में योगदान करते हैं और दूसरी ओर उसके दुष्प्रभावों के केंद्र भी बनते जा रहे हैं। शहरी हीट आइलैंड प्रभाव इसका सबसे प्रत्यक्ष उदाहरण है। शहरों में कंक्रीट, डामर और धातु से बने भवन और सड़कें दिनभर सूर्य की ऊष्मा को अवशोषित करती हैं और रात में धीरे–धीरे उसे छोड़ती हैं, जिससे इन क्षेत्रों का तापमान आसपास के ग्रामीण इलाकों की तुलना में तीन से पाँच डिग्री अधिक रहता है। यह प्रभाव मानव स्वास्थ्य को गंभीर रूप से प्रभावित करता है और ऊर्जा की मांग को बढ़ाता है।

परिणामस्वरूप एयर कंडीशनर और अन्य कूलिंग उपकरणों के अत्यधिक उपयोग से बिजली की खपत बढ़ती है, जो अंततः कार्बन उत्सर्जन को और अधिक बढ़ाती है।

इसके अतिरिक्त, शहरों के विस्तार के नाम पर पेड़–पौधों और हरित क्षेत्रों की अंधाधुंध कटाई की जा रही है। पार्क, झीलें और खुले मैदान धीरे–धीरे कंक्रीट के जंगलों में बदल रहे हैं। इससे स्थानीय जलवायु पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ रहा है, वर्षा चक्र असंतुलित हो रहा है और पारिस्थितिक संतुलन बिगड़ रहा है। वायु प्रदूषण का स्तर भी चिंताजनक रूप से बढ़ गया है। वाहनों और उद्योगों की अधिकता से शहरों की हवा विषैली हो चुकी है।

दिल्ली, लखनऊ, पटना और मुंबई जैसे शहरों में वायु गुणवत्ता सूचकांक अक्सर खतरनाक स्तर पार कर जाता है, जिससे श्वसन, हृदय और त्वचा संबंधी रोगों में वृद्धि हो रही है।

शहरीकरण का एक और गंभीर परिणाम जल संकट के रूप में सामने आया है। प्राकृतिक जल स्रोत जैसे तालाब, झीलें, नाले और कुएँ अब या तो पूरी तरह समाप्त हो चुके हैं या उनमें निर्माण कार्य और कचरे का अंबार लगा हुआ है। एक ओर लाखों लोगों को पेयजल की कमी झेलनी पड़ रही है, वहीं दूसरी ओर थोड़ी–सी बारिश में शहरों की सड़कों पर जलभराव और बाढ़ जैसी स्थिति बन जाती है। चेन्नई, मुंबई और बेंगलुरु जैसे शहर हाल के वर्षों में इन परिस्थितियों के उदाहरण बन चुके हैं। यह विरोधाभास दर्शाता है कि हमारे शहरी विकास की दिशा प्रकृति के विरुद्ध जाती रही है।

संयुक्त राष्ट्र की एक रिपोर्ट के

अनुसार, 2050 तक विश्व की लगभग सत्तर प्रतिशत जनसंख्या शहरों में निवास करेगी। इस स्थिति में यदि शहरी ढाँचे को जलवायु अनुकूल नहीं बनाया गया, तो न केवल पर्यावरणीय संकट गहराएगा, बल्कि सामाजिक और आर्थिक असंतुलन भी उत्पन्न होगा। बढ़ता तापमान, ऊर्जा संकट, स्वास्थ्य संबंधी खतरे और जीवन की गुणवत्ता में गिरावट जैसी स्थितियाँ आम हो जाएँगी। अतः यह आवश्यक है कि ''स्मार्ट सिटी'' की अवधारणा को ''ग्रीन सिटी'' और ''सस्टेनेबल सिटी'' के रूप में पुनर्परिभाषित किया जाए।

इस दिशा में सबसे पहले हरित अवसंरचना को प्राथमिकता देनी होगी। भवनों की छतों पर बागवानी, हरित दीवारें, वृक्षारोपण और शहरों में अधिकाधिक पार्कों का निर्माण शहरी तापमान को नियंत्रित करने और वायु गुणवत्ता सुधारने में सहायक हो सकता है। वर्षा जल संचयन को अनिवार्य बनाया जाना चाहिए और पुराने जल स्रोतों का पुनर्जीवन किया जाना चाहिए। अपशिष्ट जल के पुनः उपयोग यानी ग्रेवाटर रीसाइक्लिंग जैसी प्रक्रियाएँ बड़े पैमाने पर लागू की जानी चाहिए। साथ ही, नवीकरणीय ऊर्जा के उपयोग को बढ़ावा देना भी समय की मांग है। शहरी भवनों में सौर पैनलों की स्थापना, सरकारी संस्थानों को नवीकरणीय ऊर्जा से जोड़ना और पवन ऊर्जा का उपयोग बढ़ाना कार्बन उत्सर्जन में कमी ला सकता है।

सार्वजनिक परिवहन को बढ़ावा देना भी शहरी पर्यावरण सुधार में एक बड़ा कदम हो सकता है। मेट्रो रेल, इलेक्ट्रिक बसें और साइकिल पथ जैसे साधन निजी वाहनों पर निर्भरता को घटा सकते हैं और प्रदूषण को कम कर सकते हैं। इसके साथ ही, भवनों के डिजाइन में ऊर्जा दक्षता को प्राथमिकता दी जानी चाहिए ताकि प्राकृतिक रोशनी और हवा का अधिकतम उपयोग किया जा सके और तापमान नियंत्रण के लिए टिकाऊ तकनीकें अपनाई जा सकें। स्थानीय निर्माण सामग्री का प्रयोग न केवल लागत को कम करता है बल्कि पर्यावरणीय संतुलन बनाए रखने में भी सहायक होता है।

इन सभी नीतिगत और तकनीकी प्रयासों के साथ नागरिकों की सहभागिता भी अत्यंत आवश्यक है। हर व्यक्ति को यह समझना होगा कि पर्यावरण की रक्षा केवल सरकार या संस्थाओं की जिम्मेदारी नहीं है। स्वच्छता, वृक्षारोपण, ऊर्जा की बचत और कचरा प्रबंधन जैसे कार्यों में जनता की भागीदारी ही वास्तविक परिवर्तन ला सकती है। नागरिक समाज, प्रशासन और उद्योगों के बीच सहयोग से ही एक स्थायी और हरित शहर की

परिकल्पना साकार हो सकती है।

भारत में कई नगर निगम और राज्य सरकारें ''क्लाइमेट स्मार्ट सिटी'' कार्यक्रम के तहत जलवायु परिवर्तन के अनुकूल शहरी विकास की दिशा में कार्य कर रही हैं। इंदौर में ठोस अपशिष्ट प्रबंधन और स्वच्छता के क्षेत्र में उल्लेखनीय प्रगति हुई है।

पुणे और सूरत जैसे शहरों ने वर्षा जल संचयन, साइकिल ट्रैक और ग्रीन बिल्डिंग्स जैसी योजनाओं को सफलतापूर्वक लागू किया है। दिल्ली में इलेक्ट्रिक बसों की शुरुआत और वायु प्रदूषण नियंत्रण के प्रयास इस दिशा में सराहनीय कदम हैं। इसके साथ ही, केंद्र सरकार की अटल मिशन फॉर री- इनविगोरेशन एंड अर्बन ट्रांसफॉर्मेशन () और राष्ट्रीय स्वच्छ वायु कार्यक्रम () जैसी योजनाएँ भी शहरी जीवन को टिकाऊ और स्वच्छ बनाने में योगदान दे रही हैं।

जलवायु परिवर्तन अब भविष्य की चिंता नहीं बल्कि वर्तमान की सच्चाई है। शहर इसके सबसे बड़े उत्पादक भी हैं और सबसे अधिक प्रभावित भी। बढ़ती गर्मी, प्रदूषण, जल संकट और असमानता यह संकेत देते हैं कि अब हमें विकास की दिशा को पुनः परिभाषित करने की आवश्यकता है। हमें ऐसा शहरी भारत बनाना होगा जो आर्थिक रूप से प्रगतिशील होने के साथ-साथ पर्यावरणीय रूप से भी जिम्मेदार हो। भविष्य के शहर केवल तकनीकी और भौतिक प्रगति के प्रतीक न हों, बल्कि वे प्रकृति, स्थायित्व और मानव कल्याण के संतुलन का उदाहरण बनें। जब तक हम विकास और पर्यावरण के बीच समरसता स्थापित नहीं करेंगे, तब तक वास्तविक प्रगति अधूरी ही रहेगी।

इसलिए अब समय आ गया है कि हर नागरिक, नीति निर्माता और उद्योग मिलकर एक ऐसे भारत की कल्पना करें जो आधुनिकता और प्रकृति के बीच संतुलन स्थापित करे। यही दृष्टिकोण हमें जलवायु संकट से उबार सकता है और आने वाली पीढ़ियों को एक सुरक्षित, स्वच्छ और जीने योग्य पृथ्वी प्रदान कर सकता है। ***

खास जीन होगा रिएक्टिव, हार्ट ट्रांसप्लांट की जरूरत घटेगी

वैज्ञानिकों का दावा है कि एक खास जीन साइक्लिन ए2 (सीसीएनए2) को 'रीएक्टिवेट' कर हृदय को खुद मरम्मत करने की क्षमता दी जा सकती है। जन्म के बाद यह जीन बनना बंद हो जाता है, उसे दोबारा सक्रिय किया जाए तो हृदय फिर से नई कोशिकाएं बना सकता है। विश्व में हर साल लगभग 1.8 करोड़ लोग हृदय संबंधी बीमारियों से मरते हैं, जो वैश्विक मौतों का करीब एक तिहाई है। ***

पौधों और जानवरों की विलुप्ति दर धीमी हुई

लंबे समय से यह माना जा रहा था कि धरती इस वक्त अपने छठे 'मास एक्सटिंक्शन' यानी सामूहिक विलुप्ति के दौर से गुजर रही है। एरिजोना यूनिवर्सिटी के वैज्ञानिक क्रिस्टन सबान और जॉन वीन्स के नए शोध ने इस धारणा को चुनौती दी है।

'प्रोसीडिंग्स ऑफ द रॉयल सोसाइटी बी' में प्रकाशित शोध के अनुसार उन्होंने पिछले 500 वर्षों में करीब 20 लाख प्रजातियों का विश्लेषण किया और पाया कि पौधों, कीटों और भूमि पर रहने वाले जीवों की विलुप्ति दर करीब एक सदी पहले सबसे अधिक थी। उसके बाद से यह दर लगातार कम हो रही है।

यह शोध यह भी दिखाता है कि पिछले सौ वर्षों में संरक्षण प्रयासों ने विलुप्ति की रफ्तार धीमी करने में अहम भूमिका निभाई है। खतरा घटा है लेकिन खत्म नहीं हुआ है।

शोधकर्ताओं के अनुसार पिछले उदाहरणों में अधिकांश विलुप्तियां ऐसी प्रजातियों की थीं जो द्वीपों पर रहती थीं, जहां इंसानों द्वारा लाए गए आक्रामक जीव जैसे चूहा, सूअर, बकरी ने पारिस्थितिकी को तहस-नहस किया। दूसरी ओर, आज मुख्यभूमि पर सबसे बड़ी समस्या प्राकृतिक आवास का विनाश है। वैज्ञानिकों ने चेतावनी दी है कि पुराने डेटा को भविष्य के अनुमान के लिए इस्तेमाल करना खतरनाक है।

वन क्षेत्र में भारत विश्व स्तर पर 9 वें स्थान पर पहुंचा

भारत ने वैश्विक पर्यावरण संरक्षण में एक महत्वपूर्ण उपलब्धि हासिल की है और कुल वन क्षेत्र के मामले में देश विश्व स्तर पर 9वें स्थान पर पहुंच गया है। इंडोनेशिया के बाली में खाद्य एवं कृषि संगठन (एफएओ) के जारी वैश्विक वन संसाधन आकलन (जीएफआरए), 2025 के अनुसार भारत ने वन क्षेत्र के मामले में यह अहम मुकाम हासिल किया है।

पर्यावरण, वन एवं जलवायु परिवर्तन मंत्री भूपेंद्र यादव ने बुधवार को एक्स पर एक पोस्ट में इस प्रगति का ब्योरा साझा किया। श्री यादव ने कहा, यह सभी भारतीयों के लिए खुशी का एक कारण है। पिछले आकलन में, भारत दसवें स्थान पर था। उन्होंने कहा कि देश ने वार्षिक वन क्षेत्र वृद्धि के मामले में भी विश्व स्तर पर अपना तीसरा स्थान बनाये रखा है, जो सतत वन प्रबंधन और पारिस्थितिकीय

संतुलन के प्रति उसकी प्रतिबद्धता का प्रमाण है।

श्री यादव ने कहा कि यह उल्लेखनीय प्रगति प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी के नेतृत्व में सरकार की नीतियों और कार्यक्रमों की सफलता को रेखांकित करती है, जिनका उद्देश्य वन संरक्षण, वनीकरण और समुदाय–नेतृत्व वाली पर्यावरणीय कार्रवाई है।

उन्होंने कहा, यह उपलब्धि मोदी सरकार की वन संरक्षण एवं संवर्धन की योजना और नीतियों तथा राज्य सरकारों द्वारा बड़े पैमाने पर वृक्षारोपण के प्रयासों के फलस्वरूप प्राप्त हुई है।

गहरी नींद में भी लोग सपने देखते है

मानव दिमाग के रहस्यों को समझने की दिशा में वैज्ञानिकों ने बड़ी पहल की है। अलग–अलग देशों के न्यूरोसाइंटिस्ट की टीम ने पहली बार नींद और सपनों के दौरान मस्तिष्क की गतिविधि का सबसे बड़ा ओपन एक्सेस डेटाबेस तैयार किया है। इस प्रोजेक्ट का नाम है ड्रीम।

पहली बार इस डेटाबेस ने यह साबित किया है कि सपने सिर्फ रैपिड आई मूवमेंट स्लीप में ही नहीं आते, जैसा पहले माना जाता था। यह वह स्थिति होती है जब नींद में आंखें पलकों के नीचे तेजी से इधर–उधर घूमती हैं, लेकिन शरीर लगभग स्थिर रहता है। वैज्ञानिकों ने पाया कि गहरी और शांत नींद के दौरान भी लोग सपने देखते हैं।

इन अवस्थाओं में मस्तिष्क की विद्युत तरंगें गहरी नींद जैसी न होकर, जागृत अवस्था जैसी दिखाई दीं, मानो दिमाग आधा जाग रहा हो।

शोधकर्ताओं ने आर्टिफिशियल इंटेलिजेंस (एआइ) की मदद से यह भी पता लगाया कि किस समय व्यक्ति सपना देख रहा था। मशीन लर्निंग मॉडल मस्तिष्क की गतिविधि देखकर यह सटीकता से अनुमान लगा सकते थे कि उस पल व्यक्ति सपने में था या नहीं।

इटली के वैज्ञानिक जूलियो बेर्नार्डी ने कहा कि ड्रीम प्रोजेक्ट इंसानों की नींद और चेतना को समझने की दिशा में एक निर्णायक कदम है।

यह डेटाबेस इसलिए भी खास है क्योंकि अब वैज्ञानिकों के पास एक मानकीकृत और साझा मंच है, जिससे अलग–अलग प्रयोगशालाओं के डेटा को एक ही प्रारूप में देखा और विश्लेषित किया जा सकता है।

चंबल नदी में दुनिया के 80% वयस्क घड़ियाल

अंतरराष्ट्रीय प्रकृति संरक्षण संघ (आइयूसीएन) ने अपनी पहली ग्रीन स्टेटस रिपोर्ट में घड़ियालों को गंभीर रूप से कम हो रहे जलीय जीवों की श्रेणी में रखा है। दुनियाभर में घड़ियालों की स्थिति पर इसी माह आई इस रिपोर्ट में नेपाल की राप्ती नदी में संरक्षण के लिए हुए प्रयासों को सराहा गया है, वहीं मध्य प्रदेश के मुरैना, भिंड और श्योपुर जिले में चंबल व पार्वती नदी को जोड़कर बनाए गए चंबल घड़ियाल अभयारण्य को दुनियाभर में घड़ियालों का अंतिम सुरक्षित रहवास बताया गया है। रिपोर्ट के अनुसार, दुनिया में केवल 681 वयस्क घड़ियाल हैं, जिनमें से 80 फीसद वयस्क घड़ियाल केवल चंबल नदी में ही हैं।

बता दें कि चंबल अभयारण्य प्रबंधन हर साल फरवरी में घड़ियाल, मगरमच्छ और डाल्फिन की गणना कराता है। 2024 के सर्वे में 2446 घड़ियाल थे, फरवरी 2025 में संख्या 2500 तक पहुंच गई। इनमें से लगभग 545 वयस्क घड़ियाल हैं। अभयारण्य चंबल व पार्वती नदी के करीब 435 किलोमीटर लंबे क्षेत्र में आता है। नदी का पानी स्वच्छ है और सालभर बहता है। नदी के बीच और किनारों पर जगह–जगह रेत के टापू हैं, जहां घड़ियाल घरौंदा बनाते हैं, मादा इन्हीं में अंडे देती हैं। यहां देवरी सेंटर में घड़ियाल अंडों की हैंचिंग कराकर निकाले जाते हैं। तीन साल की उम्र होने पर चंबल में छोड़े जाते हैं। राजस्थान की सीमा में भी घड़ियाल के संरक्षण पर जोर दिया जाने लगा है, जिन जगहों पर घड़ियाल अंडे देती हैं, वहां तार फेंसिंग कर अंडों को सुरक्षित किया जाता है।

रिपोर्ट में घड़ियालों को बचाए रखने के लिए भी सुझाव भी दिए गए हैं, जिनमें दक्षिण एशिया खासकर भारत की नदियों से बांधों को हटाकर इन नदियों को प्राकृतिक रूप से बहने और प्राकृतिक प्रजनन को बढ़ावा देने पर बल दिया गया है। चेताया गया है कि अन्यथा की स्थिति में चंबल में घड़ियालों की हालत गंगा, सिंधु, बृह्मपुत्र और इरावदी नदियों जैसी होगी, जहां 1940 में 10 हजार तक घड़ियाल थे और 1970 आने तक 80 फीसद घड़ियाल खत्म हो गए।

रिपोर्ट में अव्यवस्थित रेत खनन को भी घड़ियालों के लिए खतरनाक बताया गया है। इन सुझावों को वर्ल्ड वाइड फंड फोर नेचर (डब्ल्यूडब्ल्यूएफ) इंडिया का भी समर्थन मिला है, जिसने अपनी एक रिपोर्ट में कहा है कि घड़ियाल के बच्चों में से केवल 0.5 फीसद ही वयस्क हो पाते हैं।

खाद्य तेल के दोबारा उपयोग से बीमारी का खतरा

राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग ने शिकायतों पर संज्ञान लेते हुए खाना बनाने के तेल के दोबारा इस्तेमाल करने के खिलाफ कार्रवाई करते हुए फूड सेफ्टी एंड स्टैंडर्ड अथॉरिटी ऑफ इंडिया से रिपोर्ट मांगी है।

शिकायतकर्ता ने खाना बनाने के तेल के दोबारा इस्तेमाल को मानव स्वास्थ्य और पर्यावरण के लिए गंभीर खतरा बताते हुए इसे मानवाधिकारों का उल्लंघन माना है।

देशभर में खाने के तेल के दोबारा इस्तेमाल के खिलाफ सार्थक सामुदायिक विकास एवं जनकल्याण संस्था भोपाल के संस्थापक द्वारा शिकायत दर्ज कराई गई है।

शिकायत में कहा गया है कि देशभर में छोटे होटलों, सड़क किनारे लगने वाले ठेले–खोमचों और फूड वेंडर्स द्वारा खाने के तेल का बार–बार इस्तेमाल किया जा रहा है, जिससे जन स्वास्थ्य के लिए खतरा पैदा हो रहा है और इससे कैंसर, हृदय संबंधी बीमारियां और लिवर संबंधी बीमारियां होने का खतरा है।

शिकायत में ये भी कहा गया है कि कई बार इस्तेमाल करने के बाद बचे हुए तेल को पानी या जमीन पर लापरवाही से फेंक दिया।

पर्यावरण संरक्षण के प्रति गंभीर है ज्यादातर युवा

देश के युवाओं के लिए पर्यावरण संरक्षण एक प्रमुख चिंता का विषय बन चुका है। यह उनके करियर और उपभोग संबंधी विकल्पों को भी प्रभावित कर रहा है।

डेलायट द्वारा किए गए एक सर्वेक्षण में यह तथ्य सामने आया है। यह सर्वेक्षण मिलेनियल पीढ़ी (1981–1996) और जेन–जी पीढ़ी (1997–2012) के युवाओं के बीच किया गया।

रिपोर्ट के अनुसार, 65 प्रतिशत जेन–जी और 63 प्रतिशत मिलेनियल युवाओं के लिए पर्यावरण संरक्षण सबसे बड़ी चिंता का कारण है।

पर्यावरण संबंधी चिंताएं उनके करियर विकल्पों को प्रभावित कर रही हैं। 23 प्रतिशत जेन–जी और 22 प्रतिशत मिलेनियल ने नौकरी स्वीकार करने से पहले कंपनी के पर्यावरणीय रिकार्ड पर शोध करने की बात स्वीकार की है।

भारत की जेन–जी तकनीक–प्रेमी, समाधान–संचालित और विश्व–उन्मुख है, जो स्वच्छ–तकनीक स्टार्टअप्स का नेतृत्व कर रही है। ***

वन विस्तार में भारत की बढ़त

प्रमोद भार्गव



दीपावली के बाद देशव्यापी प्रदूषित वायु प्रदूषण ने लोगों की धड़कनें बढ़ा दी हैं, परंतु इसी बीच सुखद खबर है कि संयुक्त राष्ट्र खाद्य एवं कृषि संगठन (एफएओ) के सर्वे ने भारत में वन क्षेत्र में वृद्धि की जानकारी दी है। भारत अब वन विस्तार में नई उपलब्धि के साथ नौवें स्थान पर आ गया है।

पिछले वर्ष यह दसवें पायदान पर था। प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी के 'एक पेड़ मां के नाम' अभियान ने इस बढ़त में अहम भूमिका निभाई है। यह रिपोर्ट इंडोनेशिया के बाली में 'वैश्विक वन संसाधन मूल्यांकन' (जीएफआरए)–2025 के नाम से जारी हुई है।

वैश्विक पर्यावरण संरक्षण के लिहाज से भारत के लिए यह महत्वपूर्ण उपलब्धि तब मील का पत्थर है, जब भारत औद्योगिक, नवीकरणीय ऊर्जा और ढांचागत विकास में निरंतर प्रगति कर रहा है। ऐसे में नौवें स्थान पर आना सतत् वन प्रबंधन और पारिस्थितिकी संरक्षण में संतुलन को दर्शाता है।

एफएओ की रिपोर्ट बताती है कि दुनिया का कुल वन क्षेत्र 414 करोड़ हेक्टेयर है। यह वन पृथ्वी की 32 प्रतिशत भूमि को आच्छादित करता है। इसका आधे से ज्यादा 54 प्रतिशत भू–भाग केवल पाँच देशों रूस, ब्राजील, कनाडा, अमेरिका और चीन में है। ऑस्ट्रेलिया, कांगो और इंडोनेशिया के बाद भारत दुनिया के शीर्ष 10 वन–समृद्ध देशों में शामिल हो गया है।

पेड़ों की अस्मिता पर ही मनुष्य व अन्य प्राणियों का जीवन टिका हुआ है। गोया, पेड़ एक ऐसी प्राकृतिक संपदा हैं,

जिनका यदि विनाश होता है तो मनुष्य का सुखद जीवन भी संभव नहीं रह जाएगा। जब से मानव सभ्यता के विकास का क्रम शुरू हुआ है, तब से लेकर अब तक वृक्षों की संख्या में 46 प्रतिशत की कमी आई है। पेड़ों की गिनती के अब तक के सबसे समग्र वैश्विक अभियान में दुनिया भर के वैज्ञानिक समूहों ने यह निष्कर्ष निकाला है।

इस अध्ययन का आकलन है कि विश्व में तीन लाख करोड़ वृक्ष हैं, यानी मोटे तौर पर प्रति व्यक्ति 422 पेड़ हैं। हालांकि यह आंकड़ा पूर्व में आकलित अनुमानों से साढ़े सात गुना ज्यादा बताया गया है। दरअसल पूर्व के वैश्विक आकलनों ने तय किया था कि दुनिया भर में महज 400 अरब पेड़ लहरा रहे हैं।

मसलन प्रति व्यक्ति पेड़ों की संख्या 61 है। यह आकलन व्यक्ति आधारित था, इसलिए इसकी प्रामाणिकता पर संदेह था। दरअसल, दुनिया में अभी भी ऐसे दुर्गम स्थानों पर जंगलों का विस्तार है, जहां सर्वेक्षण में लगे मानव समूहों का पहुँचना और पहुँचकर सर्वे करना आसान नहीं है, क्योंकि इन जंगलों में एक तो अभी भी रास्ते नहीं हैं, दूसरे खतरनाक वन्यजीवों की मौजूदगी है।

पेड़ों की यह गिनती उपग्रह द्वारा ली गई छवियों के माध्यम से की गई है। इस गणना को तकनीक की भाषा में 'सैटेलाइट इमेजरी' कहते हैं। इस तकनीक से पूरा सर्वे वन प्रांतरों में लिया गया है। इसमें जमीनी स्तर पर कोई आँकड़े नहीं जुटाए गए हैं। इस अध्ययन की विस्तृत रिपोर्ट प्रतिष्ठित जर्नल 'नेचर' में छपी है। रिपोर्ट के मुताबिक पेड़ों की उच्च सघनता रूस, स्कैंडिनेविया और उत्तरी अमेरिका के उप–आर्कटिक क्षेत्रों में पाई गई है।

इन घने वनों में दुनिया के 24 फीसदी पेड़ हैं। पृथ्वी पर विद्यमान 43 प्रतिशत यानी करीब 1.4 लाख करोड़ पेड़ उष्ण कटिबंधीय और उपोष्णकटिबंधीय वनों में हैं। इन वनों का चिंताजनक पहलू यह भी है कि वनों या पेड़ों की घटती दर भी इन्हीं जंगलों में सबसे ज्यादा है। 22 फीसदी पेड़

शीतोष्ण क्षेत्रों में हैं।

इस अध्ययन की प्रामाणिकता इसलिए असंदिग्ध है, क्योंकि इस सामूहिक अध्ययन को बेहद गंभीरता से किया गया है। इस हेतु 15 देशों के वैज्ञानिक समूह बने। इन समूहों ने उपग्रह चित्रों के माध्यम से वन क्षेत्र का आकलन प्रति वर्ग किलोमीटर में मौजूद पेड़ों की संख्या का मानचित्रण सुपर कंप्यूटर तकनीक का इस्तेमाल करके किया है। इस गिनती में दुनिया के सभी सघन वनों की संख्या 4 लाख से भी अधिक है।

दुनिया के ज्यादातर राष्ट्रीय वन

क्षेत्रों में हुए अध्ययनों को भी तुलना के लिए जगह दी गई। उपग्रह चित्रों के इस्तेमाल से पेड़ों के आकलन के साथ स्थानीय जलवायु, भौगोलिक स्थिति, पेड़–पौधे, मिट्टी की दशाओं पर मानव के प्रभाव को भी आधार बनाया गया।

इससे जो निष्कर्ष निकले, उनसे तय हुआ कि मानवीय हलचल और उसके जंगलों में हस्तक्षेप से पेड़ों की संख्या में गिरावट की दर का सीधा संबंध है। जिन वन–क्षेत्रों में मनुष्य की आबादी बढ़ी है, उन क्षेत्रों में पेड़ों का घनत्व तेजी से घटा है। वनों की कटाई, भूमि के उपयोग में बदलाव, वन प्रबंधन और मानवीय गतिविधियों के चलते हर साल दुनिया में 15 अरब पेड़ कम हो रहे हैं।

जिस तरह से भारत समेत पूरी दुनिया में अनियंत्रित औद्योगीकरण, शहरीकरण और बड़े बाँध एवं चार व छह पंक्तियों वाले राजमार्गों की संरचनाएं धरातल पर उतारी जा रही हैं, उससे भी जंगल खत्म हो रहे हैं।

ऐसे समय जब दुनिया भर के पर्यावरणविद् और वैज्ञानिक जलवायु संकट के दिनोंदिन और गहराते जाने की चेतावनी दे रहे हैं, पर्यावरण संरक्षण में सबसे ज्यादा मददगार वनों का सिमटना या पेड़ों का घटना वैश्विक होती दुनिया के लिए चिंता का अहम विषय है। विकास के नाम पर जंगलों के सफाए में तेजी भूमंडलीय आर्थिक उदारवाद के बाद आई है। पिछले 15 साल में ब्राजील में 17 हजार, म्यांमार में 8, इंडोनेशिया में 12, मेक्सिको में 7, कोलंबिया में 6.5, ज़ैरे में 4 और भारत में 4 हजार प्रति वर्ग किलोमीटर के हिसाब से वनों का विनाश हो रहा है। यानी एक साल में 170 लाख हेक्टेयर की गति से वन लुप्त हो रहे हैं।

यदि वनों के विनाश की यही रफ्तार रही तो जंगलों के 4 से 8 प्रतिशत क्षेत्र सन् 2030 तक विलुप्त हो जाएंगे। 2040 तक 17 से 35 प्रतिशत सघन वन मिट जाएंगे। इस समय तक इतनी विकराल स्थिति उत्पन्न हो जाएगी कि 20 से 75 की संख्या में दुर्लभ पेड़ों की प्रजातियां प्रति दिन नष्ट होने लग जाएंगी। नतीजतन आगामी 15 सालों में 15 प्रतिशत वृक्षों की प्रजातियां विलुप्त हो जाएंगी। इनकी विलुप्ति का असर फसलों पर भी पड़ेगा।

वृक्षों का संरक्षण इसलिए जरूरी है, क्योंकि वृक्ष जीव–जगत के लिए जीवन–तत्वों का सृजन करते हैं। वायु प्रदूषण, जल प्रदूषण, भू–क्षरण न हो, पेड़ों की अधिकता से ही संभव है। वर्षा चक्र की नियमित निरंतरता पेड़ों पर ही निर्भर है। पेड़ मनुष्य जीवन के लिए कितने उपयोगी हैं, इसका वैज्ञानिक आकलन

भारतीय अनुसंधान परिषद ने किया है। इस आकलन के अनुसार, उष्ण कटिबंधीय क्षेत्रों में पर्यावरण के लिहाज से एक हेक्टेयर क्षेत्र के वन से 1.41 लाख रुपए का लाभ होता है। इसके साथ ही 50 साल में एक वृक्ष 15.70 लाख की लागत का प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष लाभ देता है।

पेड़ लगभग 3 लाख रुपए मूल्य की भूमि की नमी बनाए रखता है, 2.5 लाख रुपए मूल्य की ऑक्सीजन, 2 लाख रुपए मूल्य के बराबर प्रोटीनों का संरक्षण करता है। वृक्ष की अन्य उपयोगिता में 5 लाख रुपए मूल्य के समतुल्य वायु व जल प्रदूषण नियंत्रण और 2.5 लाख रुपए मूल्य के बराबर की भागीदारी पक्षियों, जीव-जंतुओं व कीट-पतंगों को आश्रय स्थल उपलब्ध कराने के रूप में करता है।

वृक्षों की इन्हीं मूल्यवान उपयोगिताओं को ध्यान में रखकर हमारे ऋषि-मुनियों ने इन्हें देव तुल्य माना और इनके महत्व को पूजा से जोड़कर संरक्षण के अनूठे व दीर्घकालिक उपाय किए। इसलिए भारतीय जनजीवन का प्रकृति से गहरा आत्मीय संबंध है। लेकिन आधुनिक विकास और पैसा कमाने की होड़ ने संरक्षण के इन कीमती उपायों को लगभग ठुकरा दिया है।

पेड़ों के महत्व का तुलनात्मक आकलन अब शीतलता पहुँचाने वाले विद्युत उपकरणों के साथ भी किया जा रहा है। एक स्वस्थ वृक्ष जो ठंडक देता है, वह 10 कमरों में लगे वातानुकूलितों के लगातार 20 घंटे चलने के बराबर होती है। घरों के आसपास पेड़ लगे हों तो वातानुकूलन की जरूरत 30 प्रतिशत घट जाती है। इससे 20 से 30 प्रतिशत तक बिजली की बचत होती है।

एक एकड़ क्षेत्र में लगे वन छह टन कार्बन डाइऑक्साइड रोकते हैं, इसके उलट चार टन ऑक्सीजन उत्पन्न करते हैं, जो 18 व्यक्तियों की वार्षिक जरूरत के बराबर होती है। हमारी ज्ञान परंपराओं में आज भी ज्ञान की यही महिमा अक्षुण्ण है, लेकिन यंत्रों के बढ़ते उपयोग से जुड़ जाने के कारण हम प्रकृति से निरंतर दूरी बनाते जा रहे हैं। तय है, वैश्विक रिपोर्ट में पेड़ों के नष्ट होते जाने की जो भयावहता सामने आई है, उसकी प्रतिच्छाया में भारत में वन आच्छादित क्षेत्र में वृद्धि देश की जनता के लिए सुखद अनुभूति का संकेत है। ***

** पाठकों से **

पर्यावरण डाइजेस्ट की सदस्यता अवधि जनवरी से दिसम्बर तक रहती है जिन सदस्यों की वार्षिक सदस्यता समाप्त हो रही है वे 10 जनवरी 2026 से पूर्व नवीनीकरण करवा लें।

प्र. संपादक

झूठी खबरें बनती लोकतंत्र की चुनौती

डॉ.खुशालसिंह पुरोहित



पिछले दिनों संसद की स्थायी समिति ने फर्जी खबरों और सनसनीखेज समाचारों के प्रसार पर गहरी चिंता व्यक्त करते हुए इसे रोकने के लिए कड़े कदम उठाने की सिफारिश की है। सांसद निशिकांत दुबे की अध्यक्षता में हुई इस बैठक में विभिन्न मीडिया संगठनों को भी आमंत्रित किया गया, जहाँ उन्होंने फर्जी खबरों पर नियंत्रण और मीडिया की विश्वसनीयता बनाए रखने के उपायों पर अपने सुझाव दिए।

समिति ने कहा कि कुछ टीवी चैनल केवल टीआरपी बढ़ाने के लिए सनसनीखेज समाचारों का प्रसार कर रहे हैं, जिससे गंभीर और महत्वपूर्ण मुद्दे दब रहे हैं। साथ ही समिति ने यह भी इंगित किया कि मीडिया मालिकों, पत्रकारों और राजनीतिक इकाइयों के बीच हितों का टकराव खबरों की विश्वसनीयता पर नकारात्मक प्रभाव डाल रहा है। इसीलिए समिति ने दंडात्मक प्रावधानों में संशोधन की सिफारिश की, ताकि फर्जी खबरों के प्रसार को रोका जा सके और जनता तक सही तथा भरोसेमंद सूचना पहुँचाई जा सके।

पत्रकारिता का उद्देश्य समसामयिक विषयों पर समाज को जागरूक बनाए रखना है। यह लोकतंत्र का चौथा स्तंभ है, इसी कारण पत्रकारिता को एक महत्वपूर्ण जिम्मेदारी का कार्य माना जाता है। इन दिनों इंटरनेट और सोशल मीडिया ने पत्रकारिता को नया आयाम दिया, परन्तु इसके साथ ही कई नई चुनौतियाँ भी खड़ी हो गईं। इनमें सबसे बड़ी चुनौती फेक न्यूज़ या झूठी ख़बरों की है, जो न केवल जनता की मानसिकता को प्रभावित कर रही है बल्कि लोकतंत्र की बुनियादी संरचना को आघात पहुंचा रही है।

पत्रकारिता के आरंभिक दौर में छापाखाने के शुरुआत के समय से ही झूठी अफवाहें और गलत जानकारी समाज में फैलाई जाती रही हैं, लेकिन इंटरनेट और डिजिटल मीडिया के युग ने इसे एक नया रूप और नयी गति दी है। आज कोई भी व्यक्ति मोबाइल फोन से वीडियो बनाकर इसे तत्काल लाखों लोगों तक पहुँचा सकता है। एल्गोरिद्म आधारित सोशल मीडिया प्लेटफ़ॉर्म्स इस प्रसार को और तेज़ कर देते हैं क्योंकि वे सनसनीखेज या भावनात्मक रूप से उत्तेजक कंटेंट को प्राथमिकता से आगे बढ़ाते हैं।

परिणामस्वरूप एक झूठी ख़बर देखते ही देखते पूरी दुनिया में फैल जाती है और लोग उसे बिना जाँच परख के सच भी मान लेते हैं।

हमारा देश भी इस संकट से अछूता नहीं है। देश में इंटरनेट और स्मार्टफोन का प्रसार तेजी से हुआ है और आज लगभग 80 करोड़ से ज्यादा लोग डिजिटल प्लेटफॉर्म से जुड़े हैं। लेकिन यह विशाल संख्या एक ओर लोकतंत्र को अधिक सहभागी और जागरूक बना रही है तो दूसरी ओर जनसामान्य को फेक न्यूज़ और अफवाहों का सबसे आसान शिकार भी बना रही है।

भारत में व्हाट्सऐप जैसे प्लेटफ़ॉर्म पर फेक न्यूज़ सबसे जल्दी फैलती है। लाखों लोग बिना सोचे–समझे संदेश, वीडियो और तस्वीरें आगे भेज देते हैं, इससे कभी–कभी सामाजिक तनाव तक पैदा हो जाता है।

इसका एक प्रमुख उदाहरण है वर्ष 2016 में नोटबंदी के समय यह अफ़वाह फैली कि 2000 रुपये के नोटों में जी.पी.एस. चिप लगी है, जबकि यह पूरी तरह झूठ था। एकबार नमक की कमी की अफ़वाह ने लोगों को दुकानों पर लम्बी–लम्बी कतारों में खड़ा कर दिया, इन घटनाओं ने समाज में डर और अविश्वास का माहौल पैदा किया।

फेक न्यूज़ के पीछे कई कारण हैं। पहला है राजनीतिक लाभ। चुनावों के दौरान फर्जी खबरें विपक्षियों की छवि खराब करने, मतदाताओं को प्रभावित करने या सांप्रदायिक ध्रुवीकरण करने के लिए फैलाई जाती हैं।

दूसरा कारण है आर्थिक लाभ। क्लिकबेट साइट्स और यूट्यूब चैनल झूठी सनसनीखेज खबरों से दर्शक और विज्ञापन राजस्व जुटाते हैं। तीसरा कारण तकनीकी है। सोशल मीडिया के एल्गोरिद्म ऐसे कंटेंट को बढ़ावा देते हैं जो विवादित या भावनात्मक हो। चौथा कारण है शिक्षा और जागरूकता की कमी, जिससे लोग हर जानकारी को सच मान लेते हैं।

इन परिस्थितियों से निपटने के

लिए भारत में कई कानूनी व्यवस्थाएं और नियामक संस्थाएं मौजूद हैं।

भारतीय दंड संहिता की धारा 153 और 295 का उपयोग दंगा भड़काने या धार्मिक भावनाओं को ठेस पहुँचाने वाली फेक न्यूज़ के मामलों में किया जा सकता है। धारा 499 और 500 मानहानि के मामलों में लागू होती है। सूचना प्रौद्योगिकीय अधिनियम, 2000 की धारा 66 भी कंप्यूटर और नेटवर्क से जुड़े अपराधों पर दंड का प्रावधान करती है। इसके अलावा प्रेस काउंसिल ऑफ इंडिया, न्यूज ब्रॉडकास्टर्स एसोसिएशन, और ब्रॉडकास्टिंग कंटेंट कंप्लेंट काउंसिल जैसी संस्थान भी फेक न्यूज़ से निपटने की कोशिश करते हैं। लेकिन इन सभी के अधिकार सीमित हैं और अक्सर इनकी कार्रवाइयाँ केवल चेतावनी या निंदा तक सीमित रह जाती हैं।

हाल के वर्षों में सरकार ने नए प्रयास किए हैं। वर्ष 2023 में 'भारतीय न्याय संहिता' बनायीं गयी जिसमें भ्रामक सूचना फैलाने वालों को तीन साल तक की जेल का प्रावधान है। सरकार ने प्रेस इनफार्मेशन ब्यूरो की एक फ़ैक्ट-चेक यूनिट बनाने की कोशिश की थी लेकिन सुप्रीम कोर्ट ने इसे स्थगित कर दिया क्योंकि यह प्रेस की स्वतंत्रता पर असर डाल सकता था। हालांकि इस पर आलोचना भी हुई कि यह कानून बहुत व्यापक है और इससे आम नागरिकों की अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर भी खतरा हो सकता है।

न्यायपालिका भी इन मामलों में सक्रिय भूमिका निभा रही है। कर्नाटक हाईकोर्ट ने पत्रकार अर्णब गोस्वामी के खिलाफ दर्ज एक फेक न्यूज़ केस को खारिज कर दिया जिससे यह संदेश गया कि पत्रकारिता और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता की रक्षा करना उतना ही जरूरी है जितना फेक न्यूज़ पर रोक लगाना जरुरी है।

फेक न्यूज़ की समस्या के साथ ही फर्जी पत्रकारों की बढ़ती संख्या स्वस्थ पत्रकारिता के सामने एक नयी चुनौती है। ऐसे लोग जो न तो पत्रकारिता की पढ़ाई किये होते हैं और न ही किसी संस्थान से जुड़े होते हैं, लेकिन खुद को पत्रकार बताकर अपना काम करते हैं। ये अक्सर ब्लैकमेलिंग, अफवाहें फैलाने या व्यक्तिगत लाभ के लिए झूठी खबरें बनाते हैं। जनता पत्रकार शब्द सुनकर उन पर विश्वास कर लेती है और फर्जी पत्रकार इसका दुरुपयोग समाज को गुमराह करने के लिए करते है। इलाहाबाद हाईकोर्ट ने ऐसे ही एक मामले में सख्ती दिखाई और कहा कि राज्य को फर्जी पत्रकारों के खिलाफ ठोस कदम उठाने चाहिए। अदालत ने माना कि इस तरह के लोग

समाज में भय और अव्यवस्था फैलाते हैं और असली पत्रकारिता की साख को भी नुकसान पहुँचाते हैं। यह समस्या दिनोदिन बढ़ती जा रही है, इस पर ठोस कदम उठाये जाने की आवश्यकता है।

फेक न्यूज़ से निपटने के लिए केवल कानून बनाना ही पर्याप्त नहीं होगा। जनता को जागरूक करना भी जरूरी है। इटली जैसे देशों ने स्कूलों में "फेक न्यूज़ की पहचान" को पाठ्यक्रम का हिस्सा बनाया है।

भारत में भी साइबर सुरक्षा, इंटरनेट शिक्षा और मीडिया साक्षरता को शिक्षा व्यवस्था में शामिल करना चाहिए, इस कार्य में सोशल मीडिया कंपनियों को भी जिम्मेदारी लेनी होगी। उन्हें ऐसे एल्गोरिद्म बनाने चाहिए जो झूठी खबरों की पहचान करें जिससे उनके प्रसार को रोका जा सके। मीडिया संस्थानों की भी जिम्मेदारी है कि वे फैक्ट-चेकिंग को अपनी प्राथमिकता बनाएँ।

फेक न्यूज़, फर्जी पत्रकार और डिजिटल मैनिपुलेशन केवल पत्रकारिता पर संकट नहीं हैं, ये लोकतंत्र के लिए नयी चुनौती हैं। यदि इन पर अंकुश नहीं लगाया गया तो समाज में अविश्वास, हिंसा और अस्थिरता बढ़ेगी। दूसरी ओर, अगर बहुत अधिक नियंत्रण किया गया तो यह प्रेस की स्वतंत्रता और सामान्यजन की अभिव्यक्ति की आज़ादी पर प्रश्नचिन्ह खड़ा करेगा, इसलिए इसमें संतुलित दृष्टिकोण अपनाना आवश्यक है। इसके साथ ही एक और अत्यंत जरूरी समस्या हैफर्जी और अपर्याप्त-योग्यता वाले पत्रकारों का बढ़ना। ऐसे लोग जो औपचारिक पत्रकारिता प्रशिक्षण से वंचित हैं या मीडिया संस्थानों से संबद्ध नहीं होते, खुद को 'पत्रकार' कहकर रिपोर्ट प्रकाशित करते हैं और सूचनाओं को बिना पर्याप्त सत्यापन के प्रसारित कर देते हैं।

कभी-कभी वे ब्लैकमेल, व्यक्तिगत बदनाम करने या राजनैतिक लाभ के उद्देश्य से भी झूठी रिपोर्ट बनाते हैं। अपर्याप्त-योग्यता वाले रिपोर्टर अक्सर स्रोत की जाँच नहीं करते, निष्पक्ष पत्रकारिता के मानकों का पालन नहीं करते और संवेदनशील जानकारी को बिना जांच-परख के सार्वजनिक कर देते हैं; परिणामस्वरूप उनके काम से समाज व समुदायों में विभाजन, भय और गलतफहमियाँ फैलती हैं।

इस समस्या का समाधान केवल दंडात्मक कदमों से संभव नहीं है; इसके लिए व्यापक और सामुदायिक उपाय आवश्यक हैं। मीडिया हाउसों को अपने प्रतिनिधि नियुक्त करते समय उनकी आपराधिक पृष्ठभूमि और शैक्षणिक

प्रमाण पत्रों की कड़ी जांच करनी चाहिए तथा इस जानकारी को अपने पत्र व वेबसाइट पर स्पष्ट रूप से प्रकाशित करनी चाहिए।

स्वयंशासित पेशागत निकायों और प्रेस काउंसिल को पत्रकारों के लिए वैकल्पिक प्रमाणन और राष्ट्रीय, प्रादेशिक स्तर पर पंजीयन की व्यवस्था स्थापित करनी चाहिए, जो केंद्रीय सरकारी नियंत्रण के बिना स्वतंत्र और पारदर्शी मानकों पर काम करे।

शैक्षणिक संस्थान और पत्रकारिता स्कूल निजी और सार्वजनिक दोनों तरह के वर्कशॉप, शॉर्ट-टर्म सर्टिफिकेशन कोर्स और ऑनलाइन जॉब ट्रेनिंग कार्यक्रम चलाकर अपर्याप्त योग्यता वाले पत्रकारों को कौशल प्रशिक्षण प्रदान कर सकते हैं, जिससे वे नैतिक और तकनीकी मानकों के अनुरूप रिपोर्टिंग कर सकें।

इस समस्या से निपटने में सरकार, न्यायपालिका, मीडिया, तकनीकी कंपनियाँ, शैक्षणिक संस्थान और जनसामान्य को मिलकर प्रयास करना होगा, यही लोकतंत्र को बचाएगा और पत्रकारिता को असली गरिमा दिलाएगा। फेक न्यूज़ के इस दौर में जिम्मेदार पत्रकारिता ही समाज को सत्य, विश्वास और पारदर्शिता की राह दिखा सकती है। ***

पैक्ड स्नैक्स धूम्रपान की तरह खतरनाक

यदि आप लंच और डिनर में पिज्ज़ा, पास्ता, बर्गर, इंस्टेंट नूडल्स, सूप, रेडी टू ईट मील्स और पैक्ड स्नैक्स का इस्तेमाल कर रहे हैं तो भविष्य में क्रॉनिक डायजेस्टिव कैंसर और गंभीर हृदय रोगी हो सकते हैं। एम्स और गांधी मेडिकल कालेज की एक अध्ययन रिपोर्ट के अनुसार हाल के वर्षों में 35 से 50 साल के बीच के लोगों में डायजेस्टिव कैंसर और हृदय रोग के मामले बढ़े हैं।

जरूरत से ज्यादा डीप फ्राईड व अल्ट्रा प्रोसेस्ड पैकेज्ड फूड्स का सेवन धूम्रपान जितना ही खतरनाक हैं। इनका शरीर पर धीरे-धीरे असर होता है। जब तक रोग का पता चलता है तब तक स्थिति गंभीर हो चुकी होती है।

रोगियों की फूडिंग हैबिट से पता चला कि इनके भोजन का 60% हिस्सा अल्ट्रा-प्रोसेस्ड फूड और पैक्ड स्नैक्स फूड्स से है। इससे बॉडी में हाई-सेंसिटिव सी-रिएक्टिव प्रोटीन का स्तर लगातार बढ़ा रहा। इससे हृदय रोग, कैंसर और मेटाबॉलिक डिजीज पनपते हैं। पिज्ज़ा, बर्गर के ज्यादा सेवन से ब्लड ग्लूकोज बढ़ जाता है, इससे इंसुलिन व कैंसर सेल्स बनते हैं। ***

रचनात्मक शौक मस्तिष्क को जवां रखते हैं



नृत्य, संगीत, पेंटिंग या वीडियो गेम जैसे रचनात्मक शौक सिर्फ मज़े के लिए नहीं होते बल्कि ये मस्तिष्क की उम्र बढ़ने की प्रक्रिया को भी धीमा कर सकते हैं। एक हालिया अध्ययन में शोधकर्ताओं ने विभिन्न देशों के नर्तकों, संगीतकारों, कलाकारों और गेमर्स का विश्लेषण किया ताकि यह समझा जा सके कि क्या रचनात्मक गतिविधियां मस्तिष्क को जवां बनाए रखने में मददगार होती हैं।

नेचर कम्युनिकेशंस में प्रकाशित इस अध्ययन में 'ब्रेन क्लॉक' तकनीक का इस्तेमाल किया गया है।

यह मॉडल किसी व्यक्ति की वास्तविक उम्र और उसके मस्तिष्क की दिखाई देने वाली उम्र की तुलना करता है। ब्रेन इमेजिंग और मशीन लर्निंग से यह मापा गया कि मस्तिष्क के अलग-अलग हिस्से कितनी अच्छी तरह आपस में जुड़ते हैं। परिणाम दिखाते हैं कि रचनात्मक गतिविधियों में शामिल होने से मस्तिष्क के कनेक्शन मज़बूत होते हैं, खासकर उन हिस्सों में जो उम्र बढ़ने के साथ सबसे अधिक प्रभावित होते हैं।

इस अध्ययन के सह-लेखक और न्यूरोसाइंटिस्ट अगस्टिन इबान्ज़ बताते हैं कि पहले के अध्ययनों से पता चला था कि रचनात्मक गतिविधियां मस्तिष्क और भावनात्मक स्वास्थ्य के लिए लाभदायक हैं, लेकिन अब तक इसके जैविक कारण ठीक से समझे नहीं गए थे। यह अध्ययन दर्शाता है कि रचनात्मकता शारीरिक रूप से मस्तिष्क की उम्र बढ़ने की प्रक्रिया को धीमा कर सकती है।

शोधकर्ताओं ने चार रचनात्मक क्षेत्रों में 232 प्रतिभागियों का अध्ययन किया। उन्होंने पाया कि अधिक कुशल

और अनुभवी लोगों के मस्तिष्क उनके कम अनुभवी साथियों की तुलना में जवां दिखाई देते हैं। सबसे मज़बूत असर पेशेवर टैंगो डांसरों में देखा गया, जिनके मस्तिष्क औसतन सात साल युवा दिखे। टैंगो नृत्य में जटिल हाव–भाव, तालमेल, लय और योजना की आवश्यकता होती है, जो मस्तिष्क को स्वस्थ बनाए रखने में विशेष रूप से प्रभावी है।

अध्ययन में यह भी पाया गया कि रचनात्मकता मस्तिष्क के फ्रंटोपैरीटल क्षेत्र की सबसे ज़्यादा रक्षा करती है, जो कार्यशील स्मृति, निर्णय लेने और योजना बनाने के लिए महत्वपूर्ण है।

अनुभवी प्रतिभागियों में इस क्षेत्र की कनेक्टिविटी बेहतर थी, खासकर उन हिस्सों में जो गति, तालमेल और लय को नियंत्रित करते हैं। दिलचस्प बात यह है कि नए रचनात्मक कौशल को सीखना भी मस्तिष्क के बुढ़ाने की प्रक्रिया को धीमा करता है, जिससे पता चलता है कि किसी भी उम्र में नया शौक शुरू करना फायदेमंद हो सकता है। कुल मिलाकर, अध्ययन दिखाता है कि रचनात्मकता सिर्फ मनोरंजन नहीं है बल्कि यह मस्तिष्क को जवां बनाए रखती है।

समुद्र की आवाज़ बताएगी अम्लीयता का स्तर



समुद्र तरह–तरह की आवाज़ों से गूंजायमान है मनुष्य के जहाज़ों की धीमी गड़गड़ाहट से लेकर उसके नैसर्गिक रहवासियों जैसे व्हेल, डॉल्फिन और झींगों की धीमी–तेज़ आवाज़ों तक से। और अब, शोधकर्ताओं ने पाया है कि समुद्र की ये नैसर्गिक आवाज़ें यह बताने में मदद कर सकती हैं कि पानी कितना अम्लीय है: ये आवाज़ें समुद्री अम्लीयकरण जैसे गंभीर पर्यावरणीय खतरे को समझने का नया तरीका बन सकती हैं।

जर्नल ऑफ जियोफिज़िकल

रिसर्च: ओशियन में प्रकाशित अध्ययन के अनुसार लहरों, हवा और बारिश की आवाज़ें पानी की अम्लीयता को दूर तक और गहराई तक मापने में मददगार हो सकती हैं।

गौरतलब है कि समुद्र हर वर्ष मानव गतिविधियों से उत्सर्जित कार्बन डाईऑक्साइड का लगभग एक–तिहाई भाग सोख लेता है। इससे ग्लोबल वार्मिंग में कुछ हद तक कमी तो होती है, लेकिन परिणामस्वरूप समुद्र के पानी की घटती है और वह अधिक अम्लीय हो जाता है।

1985 से अब तक समुद्र की सतह का 8.11 से घटकर 8.04 हो गया है। यह मामूली फर्क भी कोरल रीफ, समुद्री जीवों की खोल और पूरे समुद्री पारिस्थितिकी तंत्र के लिए खतरा है।

इसी समस्या को समझने के लिए कनाडा के वैज्ञानिक डेविड बार्कले और उनकी टीम ने एक नया तरीका खोजा।

उन्होंने हाइड्रोफोन से लैस 'डीप साउंड' नामक उपकरण को 5000 मीटर गहराई तक भेजा और पाया कि इतनी गहराई में भी सतह की लहरों की आवाज़ें सुनी जा सकती हैं।

शोध में पता चला कि समुद्र में मौजूद बोरिक एसिड और मैग्नीशियम सल्फेट जैसे रसायन अलग–अलग आवृत्तियों की ध्वनि सोखते हैं। और अम्लीयता बढ़ने पर दोनों पर अलग–अलग असर होते हैं जहाँ बोरिक एसिड घटता जाता है (और उसके द्वारा सोखी गई ध्वनि भी), वहीं मैग्नीशियम सल्फेट अप्रभावित रहता है।

जैसे–जैसे समुद्र अम्लीय होता है, यह संतुलन बदलता है और ध्वनि की आवृत्ति की मदद से वैज्ञानिक समुद्र की माप सकते हैं।

इस खोज को मुकम्मल करने में टीम को लगभग 15 साल लगे। लेकिन अब उनका नया उपकरण 10,000 मीटर की गहराई (मैरियाना ट्रेंच के चैलेंजर डीप तक) काम कर सकता है।

यह तकनीक बड़े पैमाने पर मॉनीटरिंग को संभव बनाती है। हालाँकि कुछ विशेषज्ञों का मानना है कि यह तरीका अभी पारंपरिक रासायनिक मापों जितना सटीक नहीं है।

अलबत्ता, मौजूदा रोबोटिक सेंसर आधारित – तकनीकें फंडिंग और सप्लाई की दिक्कतों से जूझ रही हैं, ऐसे में यह ध्वनि–आधारित तकनीक एक महत्वपूर्ण विकल्प बन सकती है। बहरहाल, योजना इन उपकरणों को महीनों तक समुद्र तल पर छोड़कर दीर्घकालिक डेटा जुटाने की है।

पाषाणकालीन चित्रकारों के पास नीला रंग भी था



मध्यप्रदेश के भोपाल के पास स्थित भीमबेटका शैलाश्रय और होशंगाबाद में स्थित आदमगढ़ की पहाड़ियां पुरापाषाण और नवपाषाण युगीन पुरातात्विक स्थल हैं। ये शैलाश्रय उस युग के मनुष्यों द्वारा बनाए गए शैलचित्रों (रॉक पेंटिंग्स) के लिए प्रसिद्ध हैं और पुरातात्विक महत्व रखते हैं। इनमें तरह–तरह की आकृतियों में बने शैलचित्र मिलते हैं: शिकार करते मनुष्यों के, उस समय की वनस्पतियों के, जीव–जंतुओं आदि के चित्र मिलते हैं।

लेकिन ये चित्र गेरूआ या/और सफेद रंग से ही बने हैं। और लगभग यही बात प्रागैतिहासिक काल के सभी शैलाश्रयों में दिखती हैं: विविध तरह की आकृतियों में बनाए गए शैलचित्रों में बस काले, लाल–गेरूए, सफेद और हल्के पीले रंग का ही इस्तेमाल दिखता है।

ऐसा लगता था कि इस समय के चित्रकारों के पास नीला रंग था ही नहीं, इसलिए वह चित्रों से भी गायब ही रहा। नीले रंग के इस्तेमाल का पहला प्रमाण आज से 5000 साल पहले की कृतियों में मिलता है, जो मिस्र में नीले रंग के आविष्कार की बात कहता है।

पुरातत्वविदों को प्राचीन कृतियों में नीले रंग के नदारद होने का एक कारण यह लगता है कि गेरूए और काले रंग के विपरीत, नीला रंग प्रकृति में सीधे तौर पर नहीं मिलता।

हालांकि कुछ वनस्पतियों से इसे हासिल किया जा सकता है लेकिन इसे हासिल करने के लिए एक लंबी प्रक्रिया करनी पड़ती है, और फिर इनसे हासिल रंग समय के साथ उड़ भी जाते हैं या फिर अफगानिस्तान की खदानों में मौजूद लाजवर्द पत्थरों से नीला रंग हासिल किया जा सकता था, लेकिन ऐसा लगता है कि उस समय के लोगों की इस तक पहुंच नहीं थी।

***

प्राणियों की रंग बिरंगी दुनिया

सुश्री प्रज्ञा गौतम



प्रकृति काफी रंगीन है। अलग-अलग रंग असंख्य प्राणियों के ऐसे ही जब समय के साथ-साथ मनुष्य या अन्य किसी प्राणी का रंग थोड़ा बहुत बदलता है तो भी कोई खास हैरानी नहीं होती।

लेकिन अपने आसपास कुछ ऐसे प्राणी भी हैं जिनके शरीर के रंगों में परिवर्तन काफी तेजी से होता है। प्रजनन काल में कबूतर या मेंढक के गले का रंग, कुछ खास तरह की मछलियों में रंग बदलने की क्षमता, गिरगिट का रंग बदलना। कई ऐसे उदाहरण सामने आते हैं जिन्हें देखकर सवाल उठता है कि इनकी चमड़ी का रंग अचानक कैसे बदल जाता है? कौन-सी रचनाएं इस जादूनुमा खेल को संभव बनाती हैं और क्यों होता है ऐसा।

मनुष्यों में काला या भूरा-सा रंग मेलानिन पैदा करने वाली कोशिकाओं के कारण होता है, यह तो हर कहीं पढ़ने को मिल जाता है परन्तु पशु-पक्षियों में पाए जाने वाले चटकीले भड़कीले रंग एक खास तरह की कोशिकाओं की वजह से दिखते हैं। इन कोशिकाओं में रंगीन पदार्थ (पिगमेंट) पाए जाते हैं। क्रोमेटोफोर भी कहते हैं इन कोशिकाओं को।

एकदम से रंग बदल पाना चमड़ी में पाई जाने वाली इन्हीं कोशिकाओं की खासियत है जिसके कारण गिरगिट जैसे जीव क्षणभर में रंग बदल लेते हैं। ये क्रोमेटोफोर कोशिकाएं मुख्यतः तीन तरह की होती हैं। हरेक में रंग बदलने का तरीका कुछ फर्क होता है। एक तरह के क्रोमेटोफोर में उनमें मौजूद रंगीन पदार्थ को कोशिका के बीच में इकट्ठा करके रखा जा सकता है या फिर पूरी कोशिका में फैलाया जा सकता है। रंगीन पदार्थ को

बीच में छोटे से बिंदु में केंद्रित कर देने पर जंतु का रंग हल्का–पीला–सा हो जाता है। परन्तु जब रंगीन पदार्थ पूरी कोशिका में फैला दिया जाए तो जंतु की चमड़ी गाढ़ी रंगीन नजर आती है।

दूसरे तरह की क्रोमेटोफोर कोशिकाएं अमीबा की तरह अपना आकार बदल सकती हैं। जब रंग हल्का करना हो तो ये कोशिकाएं एकदम संकुचित हो जाती हैं ताकि अन्य कोशिकाओं का हल्का सा रंग ही दिखाई दे। जब गहरा रंग लाना हो तो ये चमड़ी पर चपटी होकर फैल जाती हैं। तीसरी तरह के क्रोमेटोफोर दूसरी किस्म से काफी मिलते–जुलते हैं। इनका भी आकार बदल सकता है।

परंतु वह तभी संभव होता है जब 'इनसे जुड़े हुए अन्य ऊतक (टिशू) इन्हें चारों तरफ से खींचते हैं।

यह जरूरी नहीं हैं कि किसी प्राणी में केवल एक ही तरह के क्रोमेटोफोर हों, कुछ में तो तीन–चार किस्म के क्रोमेटोफोर एक साथ पाए जाते हैं। ये सब कोशिकाएं एक ही रंग से भरी पड़ी हों यह भी जरूरी नहीं है। इन सब कोशिकाओं और रंगों के परिणामी प्रयास से ही जीवजंतुओं का पलक भर में रंग बदलना संभव हो पाता है।

इन रंगीन कोशिकाओं का नियंत्रण तंत्रिका तंत्र से भी होता है और हार्मोन्स से भी। इसलिए सब जीव–जंतुओं में रंग परिवर्तन एक ही तरह के कारणों से नहीं होता – भय, उत्तेजना, तापमान, वातावरण के रंग आदि बहुत–सी बातों से प्रभावित होता है यह बदलाव।

पेड़ से उतर कर बगीचे की दीवार पर आ बैठे गिरगिट की तरफ आकर्षित होकर हम अनायास ही उसके पास चले जाते हैं। हमारे निकट आते ही कुछ ही क्षणों में उसका हल्का पीला रंग दीवार के पत्थरों की तरह कत्थई हो जाता है। हम अचंभित रह जाते हैं। प्रकृति कितने चमत्कारों से भरी है, कितनी रहस्यमयी है। प्रकृति ने रंग बदलने की अद्भुत क्षमता गिरगिट ही नहीं अनेक जीवों को भी दी है। मेंढक और मछलियों की अनेक प्रजातियाँ रंग परिवर्तन की क्षमता रखती हैं।

अकशेरुकी प्राणी जैसे मकड़ों की कुछ जातियां, कुछ कीट और सिफेलोपोड्स (ऑक्टोपस, कटल फिश, स्क्विड्स आदि) भी इस क्षमता से युक्त होते हैं। ऑक्टोपस तो इस कार्य में इतने दक्ष होते हैं की पल भर में अपने आप को पृष्ठभूमि के रंग में मिला लेते हैं।

रंग बदलने में लगा समय कुछ क्षणों से लेकर पूरा दिन भी हो सकता है। ऑक्टोपस और गिरगिट में यह कार्य त्वरित गति से होता है जबकि कीटों के लार्वा में पूरा दिन भी लग सकता है। रंग

परिवर्तन की क्षमता वालेशीत रुधिरीय प्राणियों की त्वचा में विशिष्ट कोशिकाएं पायी जाती हैं, जो रंग परिवर्तन के लिए उत्तरदायी होती हैं। पक्षियों और स्तनधारी प्राणियों में ऐसी कोशिकाएं अनुपस्थित होती हैं। इनमें रोमों या पंखों के झड़ने या पंखों का विन्यास बदलने से रंग परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है। यह प्रक्रिया क्रमिक रूप से होती है और इसमें कुछ माह का समय लगता है।

शीत रुधिरीय कशेरुकी प्राणियों (गिरगिट, मेंढक और मछली) में विभिन्न वर्णक कोशिकाएं–प्राणियों की त्वचा बाह्य और आंतरिक त्वचा में विभेदित होती है। बाह्य त्वचा जिसे एपिडर्मिस कहते हैं पतली और पारदर्शी होती है जबकि आंतरिक त्वचा डर्मिस में कुछ विशिष्ट प्रकार की कोशिकाएं पाई जाती हैं जो तीन परतों में व्यवस्थित रहती हैं।इन्हें क्रोमेटोफोर्स कहते हैं।

क्रोमेटोफोर्स कई प्रकार के होते हैं। इनमें विभिन्न रंगों के रंजक कण होते हैं। जेन्थोफोर्स में पीला वर्णक टेरीडीन और इरिथ्रोफोर्स में नारंगी– लाल केरेटोनोइड्स होते हैं इसी प्रकार सायनोफोर्स में नीले वर्णक होते हैं।जैन्थोफोर्स और इरिथ्रोफ़ोर्स सबसे ऊपरी परत में होते हैं।

इन क्रोमेटोफोर्स की परत के नीचे एक अन्य विशिष्ट प्रकार की कोशिकाओं इरिडोफोर्स की परत होती है। इनमें रंजक कण नहीं होते।इनमें पारदर्शी क्रिस्टेलाइन प्लेट्स होती हैं जो प्रिज्म की तरह प्रकाश का परावर्तन और प्रकीर्णन करती हैं। इरिडोफोर्स के भीतर क्रिस्टेलाइन प्लेट्स के स्थान परिवर्तन के फलस्वरूप विभिन्न रंग नीला, श्वेत और पराबैंगनी आदि उत्पन्न होते हैं। ये रंग क्रोमेटोफोर्स के रंगों के साथ मिलकर विभिन्न रंग प्रभाव उत्पन्न करते हैं।

इरिडोफोर्स के नीचे रंजक कोशिकाओं मेलेनोफोर्स की परत होती है। इनमें काला और गहरा भूरा रंजक होता है जिसे मेलेनिन कहते हैं। ये कोशिकाएं तारे के सामान बहुभुजाकार होती हैं और इनकी भुजाएं ऊपर की तरफ उन्मुख क्रोमेटोफोर्स के बीच– बीच में स्थित होती हैं।मेलेनिन के कण जब पूरी कोशिका में फैले होते हैं तो कोशिका गहरे रंग की दिखाई देती है और जब मध्य में इकट्ठे हो जाते हैं तो कोशिका हलके रंग की दिखाई देती है। इन मेलेनिन कणों की गति के कारण बना गहरा या हल्का रंग क्रोमेटोफोर्स के रंगों के साथ मिलकर गहरा या हल्का रंग प्रभाव उत्पन्न करता है।

कुछ मछलियों में इरिडोफ़ोर्स की तरह ही ल्यूकोफ़ोर्स पाए जाते हैं जिनमें क्रिस्टल्स बहुत ही अच्छी तरह संगठित होते हैं जिस से प्रकाश का केवल परावर्तन

होता है। ये मछलियों की त्वचा में चांदी जैसी चमक पैदा करते हैं।

किस प्रकार होता है रंग परिवर्तन

तापमान, प्रकाश, पृष्ठभूमि के रंग में बदलाव इन प्राणियों को रंग परिवर्तन के लिए उत्तेजित करते हैं। ताप बढ़ने पर इन का रंग हल्का हो जाता है। इसी प्रकार रात्रि में ये हलके रंग के हो जाते हैं। यदि इनके शरीर के किसी भाग पर टॉर्च से प्रकाश डाला जाता है तो वह भाग गहरा हो जाता है। शिकारी,प्रतिद्वंद्वी या साथी की उपस्थिति भी रंग परिवर्तन के लिए उत्तरदायी होती है।

प्रतिद्वंद्वी या साथी के सामने ये चटख रंग प्रदर्शित करते हैं। अपनी इन्द्रियों (त्वचा, आँखें) द्वारा ये आस –पास के वातावरण की सूचना ग्रहण करते हैं। यह सूचना तंत्रिकाओं द्वारा मस्तिष्क तक पहुँचती है। मस्तिष्क द्वारा इस सूचना का विश्लेषण करके क्रोमेटोफ़ोर्स को सीधे ही या हार्मोन्स के द्वारा सन्देश भेजा जाता है।

सिफेलोपोड्स में रंग परिवर्तन

ऑक्टोपस में जटिल बहुकोशिकीय पेशीय अंग होता है। क्रोमेटोफॉर कोशिका में रंजकों से भरी थैली होती है जो पेशियों और तंत्रिकाओं से घिरी होती है। पेशियों के सिकुड़ने और फैलने से रंजक थैली के आकार में परिवर्तन होता है और ये प्राणी तुरंत पृष्ठभूमि के रंग के हो जाते हैं। कटल फिश प्रतिद्वंद्वी या साथी की उपस्थिति में काली और सफ़ेद धारियां प्रदर्शित करती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि गिरगिट में रंग परिवर्तन क्रोमेटोफ़ोर्स में रंजक कणों की गति के कारण होता है जबकि सिफेलोपोड्स में क्रोमेटोफोर अंग की पेशियों के सिकुड़ने पर रंजक थैली के आकार में परिवर्तन के कारण रंग बदलता है।

रंग परिवर्तन के उद्देश्य

1. शरीर के तापमान का नियमन 2.परस्पर सूचनाओं के आदान– प्रदान के लिए 3.छलावरण करके शिकार को धोखा देना या शिकारी से बचना 4.प्रतिद्वंद्वी को चुनौती देने के लिए, डराने या धमकाने के लिए 5. साथी को आकर्षित करने के लिए

पक्षियों और स्तनधारियों में रंग परिवर्तन

स्तनधारी प्राणियों में क्रोमेटोफोर अनुपस्थित होते हैं।

इनकी त्वचा में मेलेनोसाइट्स पाई जाती हैं जिनमें मेलेनिन कण पाए जाते हैं। वातावरण के तापमान के अनुसार इनका रंग गहरा या हल्का हो जाता है।

लोमड़ियों में शरीर के बालों का रंग बाह्य वातावरण के अनुरूप गहरा या हल्का हो जाता है जो शिकारियों से बचने में इनकी मदद करता है। किसी मौसम में बालों के झड़ने पर भी रंग परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है। पक्षियों में भी पंखों के झड़ने पर रंग में बदलाव दिखता है। कुछ

पक्षी साथी को आकर्षित करने के लिए अपने रंग– बिरंगे पंखों को विभिन्न प्रकार से संयोजित करके अपने रंग में बदलाव कर लेते हैं।

रंग परिवर्तन की अद्भुत क्षमता एक प्रकार का अनुकूलन है जिसके द्वारा प्राणी वातावरण के अनुसार स्वयं को संयोजित कर पाते हैं। यही नहीं इन प्राणियों में पायी जाने वाली क्रोमेटोफॉर कोशिकाओं का आजकल चिकित्सा के क्षेत्र में भी उपयोग हो रहा है।

इन प्राणियों में अन्धता के निदान के लिए इनका बायोमार्कर के रूप में उपयोग किया जाता है। रोगों का पता लगाने हेतु इनका बायोसेंसर के रूप में भी प्रयोग किया जा रहा है।

वैज्ञानिकों ने एक नए अध्ययन में खुलासा किया है कि पृथ्वी पर रंगों की शुरुआत लगभग 60 करोड़ साल पहले हुई, जब जीवों ने प्रकाश और अंधेरे को पहचानना शुरू किया।

कहा जाता है कि 50 करोड़ साल पहले कुछ जानवरों ने लाल, हरा और नीला देखने की क्षमता विकसित की। इससे उन्हें शिकार और शिकारियों को पहचानने में मदद मिली।

धीरे–धीरे यह क्षमता विकसित हुई, जिससे जीव अधिक रंगीन होते गए। यह प्रक्रिया पृथ्वी को रंगीन बनाने में एक महत्वपूर्ण मोड़ थी।

अध्ययन के अनुसार, रंग पहले पौधों में विकसित हुए। 30 करोड़ साल पहले रंगीन फल बने और 14 करोड़ साल पहले फूल विकसित हुए। इससे कीड़े और पक्षी आकर्षित हुए, जिससे पारिस्थितिकी तंत्र में बदलाव आया। इसके बाद जानवरों ने भी रंग अपनाने शुरू किए। कुछ ने साथी को आकर्षित करने, तो कुछ ने शिकारियों को डराने के लिए चमकीले रंग अपनाए।

डायनासोर के जीवाश्म बताते हैं कि उनके पंख भी रंगीन हो सकते थे। वैज्ञानिकों का मानना है कि पृथ्वी के रंग अब भी बदल रहे हैं। प्रदूषण और जलवायु परिवर्तन के कारण कुछ जीव अपना प्राकृतिक रंग खो रहे हैं।

कई मछलियां अब उतनी चमकीली नहीं दिखतीं, क्योंकि प्रदूषित पानी उनकी रंगत को प्रभावित कर रहा है। कुछ जीवों के रंग बदलने से उनका अस्तित्व भी खतरे में पड़ सकता है। शोधकर्ता यह समझने की कोशिश कर रहे हैं कि भविष्य में प्रकृति कौन से नए रंग विकसित कर सकती है।

प्राणियों की यह रंग बिरंगी दुनिया मानव जिज्ञासा का विषय रही है वैज्ञानिक इस विषय में शोध अध्ययन कर रहे जिससे रंगो की दुनिया की नयी नयी जानकारी से परिचित हो सके । ***

चिड़िया और चुरुंगुन

हरिवंशराय बच्चन

छोड़ घोंसला बाहर आया,
देखी डालें, देखे पात,
और सुनी जो पत्ते हिलमिल करते हैं आपस में बात;
माँ, क्या मुझको उड़ना आया?
'नहीं, चुरुंगुन, तू भरमाया'
डाली से डाली पर पहुँचा, देखी कलियाँ, देखे फूल,
ऊपर उठकर फुनगी जानी, नीचे झुककर जाना मूल;
माँ, क्या मुझको उड़ना आया?
'नहीं, चुरुंगुन, तू भरमाया'
कच्चे-पक्के फल पहचाने,
खाए और गिराए काट, खाने-गाने के सब साथी
देख रहे हैं मेरी बाट;
माँ, क्या मुझको उड़ना आया?
'नहीं, चुरुंगुन, तू भरमाया'
उस तरु से इस तरु पर आता,
जाता हूँ धरती की ओर,दाना कोई कहीं पड़ा हो
चुन लाता हूँ ठोक-ठठोर;
माँ, क्या मुझको उड़ना आया?
'नहीं, चुरुंगुन, तू भरमाया'
मैं नीले अज्ञात गगन की सुनता हूँ अनिवार पुकार
कोई अंदर से कहता है उड़ जा, उड़ता पर मार;
माँ, क्या मुझको उड़ना आया?
'आज सुफल हैं तेरे डैने,
आज सुफल है तेरी काया'

***

म.प्र : ठोस कचरा प्रबंधन को लेकर एनजीटी सख्त



मध्यप्रदेश के शहर–कस्बों में जगह–जगह लगे कचरे के पहाड़ अब सिर्फ बदबू नहीं, जनस्वास्थ्य के लिए खतरा बन गए हैं। राष्ट्रीय हरित अधिकरण (एनजीटी) ने राज्य सरकार को कड़ी फटकार लगाते हुए कहा है कि अब 'कागजी योजनाओं; का वक्त खत्म हो चुका है, अब जमीन पर काम दिखना चाहिए। भोपाल स्थित एनजीटी की बेंच ने कहा–'पुराना और नया कचरा, दोनों राज्य की प्राथमिकता में हों।'

एनजीटी ने आदेश दिया है कि मध्यप्रदेश के हर जिले में ट्रीटमेंट प्लांट लगाए जाएं ताकि रोज जमा हो रहे कचरे का वैज्ञानिक निस्तारण हो सके।

एनजीटी ने 'सिंगल विंडो सिस्टम' बनाने का भी सुझाव दिया है, जिसकी अध्यक्षता अतिरिक्त मुख्य सचिव (एसीएस) करेंगे। इसमें अन्य विभागों के अधिकारी शामिल होंगे।

मप्र में हर दिन करीब 3,830 टन कचरा पैदा होता है। इसमें से सिर्फ 80.67% यानी 3,087 टन ही प्रोसेस किया जा रहा है। बाकी 19% यानी करीब 743 टन रोजाना बिना प्रोसेस किए डंप साइट्स पर फेंक दिया जाता है।

लगभग 14 लाख टन सालाना कचरा निकलता है। इसमें हर साल 5–7% की बढ़ोतरी हो रही है। प्रदेश के तीन शहर मिलकर राज्य के कुल कचरे का करीब 60% हिस्सा पैदा करते हैं। इंदौर (1,100 टन/दिन), भोपाल (800 टन/दिन), जबलपुर (450 टन/दिन) नगरीय निकायों का कुल सालाना खर्च औसतन 700 करोड़ रुपए है। लेकिन इसमें से 60 से 70% वेतन पर और 20 से

25% कचरा उठाने–ढोने में खर्च हो जाता है। महज 10 से 15% ही प्रोसेसिंग (निस्तारण) पर खर्च हो पाता है।

बिना निस्तारण वाला कचरा मच्छरों, मक्खियों और चूहों का घर बनता है। इससे मलेरिया, डेंगू, हैजा और टाइफाइड जैसे रोगों का जोखिम 15% से 25% बढ़ जाता है।

खुले में कचरा जलाने से निकलने वाले 2.5 कण और धुआं हवा को दूषित करते हैं। डंप साइट्स के पास रहने वालों में अस्थमा, ब्रोंकाइटिस और एलर्जी के मामले 20% से 30% अधिक पाए गए हैं। लीचेट भूजल और तालाबों को दूषित करता है, जिससे पेट के संक्रमण से रोग फैलते हैं।

प्रदूषण से गई 17 लाख से अधिक जानें



वर्ष 2022 में भारत में मानव–जनित पीएम 2.5 प्रदूषण के कारण 17 लाख से अधिक लोगों की मृत्यु हुई। यह चौंकाने वाला आंकड़ा स्वास्थ्य और जलवायु परिवर्तन पर लैंसेट की एक रिपोर्ट में सामने आया है। रिपोर्ट में यह भी उल्लेख किया गया है कि जलवायु परिवर्तन के कारण 2024 में प्रत्येक व्यक्ति ने लगभग सात दिन अतिरिक्त लू वाले दिनों का सामना किया।

रिपोर्ट में कहा गया है कि मानव–जनित पीएम 2.5 प्रदूषण 2022 में भारत में 17,18,000 मौतों के लिए जिम्मेदार था, जो 2010 से 38 प्रतिशत अधिक है।

2020–2024 के दौरान, भारत में प्रति वर्ष औसतन 10,200 मौतें जंगल की आग से होने वाले पीएम 2.5 प्रदूषण के कारण हुईं, जो 2003–2012 की दरों से 28 प्रतिशत अधिक है।

वहीं, जीवाश्म ईंधन (कोयला और तरल गैस) के कारण 7,52,000 (44 प्रतिशत) मौतें हुईं। सड़क परिवहन के लिए पेट्रोल के उपयोग से 2.69 लाख मौतें हुईं। ***

लोक चेतना अभियान

सूखी धरती करे पुकार
हरियाली से करो श्रृंगार



पेड़ हैं तो वन है, वन हैं तो बरसात है,
बरसात है तो जल है, जल है तो जीवन है!

एक पर्यावरण प्रेमी मित्र के सौजन्य से जारी

डाक पंजीयन क्रं. RTM DN 122 MP 2024-26

पर्यावरण डाइजेस्ट नवम्बर 2025 RNI पंजीयन क्रं. 47679/87